चिन्तन के कुछ क्षण

[१]

सत्य काव्य का साध्य और सौन्दर्य साधन है। एक अपनी एकता मे असीम रहता है और दूसरा अपनी अनेकता मे अनन्त; इसी से साधन के परिचय-स्निग्ध खण्ड रूप से साध्य की विस्मयभरी अखण्ड स्थिति तक पहुँचने का क्रम आनन्द की लहर पर लहर उठाता हुआ चलता है।

इस व्यापक सत्य के साथ हमारी सीमा का सम्बन्ध कुछ जटिल सा है। हमारी दृष्टि के सामने क्षितिज तक जो अनन्त विस्तार फैला है वह मिट नही सकता, पर हम अपनी आँख के तिल के सामने एक छोटा सा तिनका भी खडा करके, उसे इन्द्रजाल के समान ही अपने लिए लुप्त कर सकते हैं। फिर जब तक हम उसे अपनी आँख से कुछ अन्तर पर एक विशेष स्थिति मे, उस विस्तार के साथ रख कर न देखे तब तक हमारे लिए वह क्षितिजव्यापी विस्तार नही के बराबर है। केवल तिनका ही हमारी दृष्टि की सीमा को सब ओर से घेर कर विराट बन जायगा। परन्तु उस तृणविशेष पर ही नही, लता, वृक्ष, खेत, वन आदि सभी खण्डरूपो पर ठहरती हुई हमारी दृष्टि उस विस्तार का ज्ञान करा सकती है। बिना रूपो की सीमा के उस असीम विस्तार का बोध होना कठिन है और विस्तार की व्यापक पीठिका के अभाव में उन रूपो की अनेकात्मकता की अनुभूति सम्भव नही। अखण्ड सत्य के साथ हमारी स्थिति भी बहुत कुछ ऐसी ही रहती है। उसका जितना अश हम अपनी सीमा से घेर सकते हैं उसे ऐसी स्थिति में रख कर देखना आवश्यक हो जाता है जहाँ वह हमारी सीमा में रह कर भी सत्य की व्यापकता में अपनी निश्चित स्थिति बनाए रहे। व्यक्ति की सीमा में तो सत्य की ऐसी दोहरी स्थिति सहज ही नही स्वाभाविक भी है अन्यथा उसे तत्वत ग्रहण करना सम्भव न हो सकेगा। परन्तु, खण्ड में अखण्ड की इस स्थिति को प्रेषणीय बना लेना दुष्कर नही तो कठिन अवश्य है। आकार की रेखाओ की सख्या, लम्बाई चौडाई, हल्का भारीपन आदि गणित के अको में बाँधे जा सकते हैं, परन्तु रेखा से परिमाण तक व्याप्त सजीवता का परिचय, सख्या, मात्रा या तोल से नही दिया जा सकता। आकार को ठीक नापजोख के साथ दूसरे तक पहुँचा देना जितना सहज है, जीवन को सम्पूर्ण अतुलनीयता के साथ दूसरे को दे सकना उतना ही कठिन।

सत्य की व्यापकता मे से हम चाहे जिस अश को ग्रहण करें वह हमारी सीमा में बँध कर व्यष्टिगत हो ही जाता है और इस स्थिति मे हमारी सीमा के साथ सापेक्ष पर अपनी व्यापकता में निरपेक्ष बना रहता है। दूसरे के निकट हमारी सीमा से घिरा सत्य हमारा रह कर ही अपना परिचय देना चाहता है और दूसरा हमे तोल कर ही उस सत्य का मूल्य आँकने की इच्छा रखता है। इतना ही नही उसकी तुला पर रुचिवैचित्र्य, सस्कार, स्वार्थ आदि के न जाने कितने पासगो की उपस्थिति भी सम्भव है, अत सत्य के सापेक्ष ही नही निरपेक्ष मूल्य के सम्बन्ध मे भी अनेक मतभेद उत्पन्न हो जाते हैं।

इसके अतिरिक्त मनुष्य की चिर अतृप्त जिज्ञासा भी कुछ कम नही रोकती टोकती। 'हमने अमुक वस्तु को अमुक स्थिति में पाया' इतना कथन ही पर्याप्त नही, क्योकि सुननेवाला कहाँ कहाँ कहकर उसे अपने प्रत्यक्ष ज्ञान की परिधि में बाँध लेने को व्याकुल हो उठेगा। अब यदि वह हमारी ही स्थिति मे, हमारे ही दृष्टिकोण से उसे न देख सके तो वह वस्तु कुछ भिन्न भी लग सकती है और तब विवाद की कभी न टूटनेवाली शृखला में नित्य नई कडियाँ जुडने लगेगी। बाह्य जीवन में तो यह समस्या किसी अश तक सरल की भी जा सकती है, परन्तु अन्तर्जगत में इसे सुलझा लेना सदा ही कठिन रहा है।

इस सत्य सम्बन्धी उलझन को सुलझाने के लिए जीवन न ठहर सकता है और न इसे छोड कर आगे बढ सकता है, अत. वह सुलझाता हुआ चलता है। बाह्य जीवन मे राजनीति, समाज-शासन, धर्म आदि इतिवृत्त के समान सत्य का परिचय भर देते चलते हैं। मनुष्य की हठीली जिज्ञासा किसी ग्रन्थि को पकड कर रुक न जाय, इस भय से उन्होने प्रत्येक ग्रन्थि पर अनुग्रह और दण्ड की इतनी चिकनाहट लगा दी है, जिससे हाथ फिसल भर जावे। कही महाभाष्य के समान बहुत विस्तार में उलझे हुए और कही सूत्रो के समान सक्षिप्त रूप में सुलझे हुए सिद्धान्त कभी सत्य के सग्रहालय जैसे जान पडते है और कभी अस्त्रागार जैसे, कही सत्य की विकलाग मूर्त्तियो का स्मरण करा

देते है और कही अधूरे रेखाचित्रो का, पर व्यापक स्पन्दित सत्य का अभाव नही दूर कर पाते। मनुष्य के बाह्य जीवन की निर्धनता देखने के लिए वे सहस्राक्ष बनने पर बाध्य है और उसके अन्तर्जगत के वैभव के लिए धृतराष्ट्र होने पर विवश।

हमारी बुद्धिवृत्ति बाहर के स्थूलतम बिन्दु से लेकर भीतर के सूक्ष्मतम बिन्दु तक जीवन को एक अर्धवृत्त मे घेर सकती है, परन्तु दूसरा अर्धवृत्त बनाने के लिए हमारी रागात्मिका वृत्ति ही अपेक्षित रहेगी। हमारे भावक्षेत्र और ज्ञानक्षेत्र की स्थिति पृथ्वी के दो गोलार्धो के समान है जो मिलकर भूगोल को पूर्णता देते है और अकेले आधा ससार ही घेर सकते है। एक ओर का भूखण्ड दूसरे का पूरक बना रहने के लिए ही उसे अन्तर पर रख कर अपनी दृष्टि का विषय नही बना पाता; परन्तु इससे दोनो मे से किसी की भी स्थिति संदिग्ध नही हो जाती।

हमारी बुद्धि और रागात्मिका वृत्ति के दो अर्धवृत्तो से घिरे सत्य के सम्बन्ध मे भी यही सत्य रहेगा। हमारे व्यावहारिक जीवन का प्रत्येक कार्य, सकल्प-विकल्प, कल्पना-स्वप्न, सुख-दु ख आदि की भिन्नवर्णी कड़ियोवाली शृखला के एक सिरे मे झूलता रहता है। इस शृंखला की प्राय. सभी कडियो की स्थिति अन्तर्जगत मे ही सम्भव है। व्यवहार-जगत केवल कार्य से सम्बन्ध रखता है, बुद्धि कार्य के स्थूल ज्ञान से लेकर उसे जन्म देनेवाले सूक्ष्म विचार तक जानती है और हृदय तज्जनित सुख-दुख से लेकर स्वप्न-कल्पना तक की अनुभूतियाँ सचित करता है। इस प्रकार बाह्य जीवन की सीमा मे वामन जैसा लगनेवाला कार्य भी हमारे अन्तर्जगत की असीमता मे बढते बढते विराट हो सकता है।

बहिर्जगत से अन्तर्जगत तक फैले और ज्ञान तथा भावक्षेत्र मे समान रूप से व्याप्त सत्य की सहज अभिव्यक्ति के लिए माध्यम खोजते खोजते ही मनुष्य ने काव्य और कलाओ का आविष्कार कर लिया होगा। कला सत्य को ज्ञान के सिकता-विस्तार मे नही खोजती अनुभूति की सरिता के तट से एक विशेष बिन्दु पर ग्रहण करती है। तट पर एक ही स्थान पर बैठे रह कर भी हम असख्य नई तरगो को सामने आते और पुरानी लहरो को आगे जाते देख कर नदी से परिचित हो जाते है। वह किस पर्वतीय उद्गम से निकल कर, कहाँ कहाँ बहती हुई किस समुद्र की अगाध तरलता मे विलीन हो जाती है यह प्रत्यक्ष न होने पर भी हमारी अनुभूति मे नदी पूर्ण है और रहेगी। जब हम कहते है कि 'हमने एक ओर चाँदी की धूल जैसी झिलमिलाती बालू और दूसरी ओर दूर हरीतिमा मे तटरेखा बनाती हुई, अथाह नील जल से भरी नदी देखी, तब सुननेवाला कोई प्रचलित नाप-जोख नही माँगता। हमने इतने गज प्रवाह नापा है, इतने सौ लहरे गिनी है, इतने फीट गहराई नापी है, इतने सेर पानी तोला है आदि आदि नापतोल न बता कर भी हम नदी का ठीक परिचय दूसरे के हृदय तक पहुँचा देते है। सुननेवाला उस नदी को ही नही उसके शाश्वत् सौन्दर्य को भी प्रत्यक्ष पाकर एक ऐसे आनन्द की स्थिति में पहुँच जाता है जहाँ गणित के अको मे बँधी नापजोख के लिए स्थान नही।

मस्तिष्क और हृदय परस्पर पूरक रह कर भी एक ही पथ से नही चलते। बुद्धि मे समानान्तर पर चलनेवाली भिन्न भिन्न श्रेणियाँ है और अनुभूति मे एकतारता लिए गहराई। ज्ञान के क्षेत्र में एक छोटी रेखा के नीचे उससे बडी रेखा खीच कर पहली का छोटा और भिन्न अस्तित्व दिखाया जा सकता है। इसके असख्य उदाहरण, विज्ञान, जीवन की स्थूल सीमा मे और दर्शन जीवन की सूक्ष्म असीमता मे दे चुका है। पर अनुभूति के क्षेत्र मे एक की स्थिति से नीचे और अधिक गहराई मे उतर कर भी हम उसके साथ एक ही रेखा पर रहते है। एक वस्तु को एक व्यक्ति अपनी स्थिति विशेष में अपने विशेष दृष्टिबिन्दु से देखता है, दूसरा अपने धरातल पर अपने से और तीसरा अपनी सीमारेखा पर अपने से। तीनो ने वस्तुविशेष को जिन विशेष दृष्टिकोणो से जिन विभिन्न परिस्थितियो मे देखा है वे उनके तद्विषयक ज्ञान को भिन्न रेखाओ मे घेर लेंगी। इन विभिन्न रेखाओ के नीचे ज्ञान के एक सामान्य धरातल की स्थिति है अवश्य, परन्तु वह अपनी एकता के परिचय के लिए ही इस अनेकता को सँभाले रहती है।

अनुभूति के सम्बन्ध मे यह कठिनाई सरल हो जाती है। एक व्यक्ति अपने दु ख को बहुत तीव्रता से अनुभव कर रहा है, उसके निकट आत्मीय की अनुभूति मे तीव्रता की मात्रा कुछ घट जायगी और साधारण मित्र मे उसका और भी न्यून हो जाना सम्भव है, पर जहाँ तक दु.ख के सामान्य सवेदन का प्रश्न है वे तीनो एक ही रेखा पर निकट, दूर, अधिक दूर, की स्थिति में रहेंगे। हाँ जब उनमें से कोई उस दु.ख को, अनुभूति के क्षेत्र से निकाल कर बौद्धिक धरातल पर रख लेगा तब कथा ही दूसरी हो जायगी। अनुभूति अपनी सीमा में जितनी सबल है उतनी बुद्धि नही। हमारे स्वय जलने की हल्की अनुभूति भी दूसरे के राख हो जाने के ज्ञान से अधिक स्थायी रहती है।

बुद्धिवृत्ति अपने विषय को ज्ञान के अनन्त विस्तार के साथ रख कर देखती है, अत व्यष्टिगत सीमा मे उसका सदिग्ध हो उठना स्वाभाविक ही रहेगा। 'अमुक ने धूम देखकर अग्नि पाई' की जितनी आवृत्तियाँ होगी हमारा धूम और अग्नि की सापेक्षता विषयक ज्ञान उतनी ही निश्चित स्थिति पा सकेगा। पर अपने विषय पर केन्द्रित होकर उसे जीवन की अनन्त गहराई तक ले जाना अनुभूति का लक्ष्य रहता है, इसीसे हमारी व्यक्तिगत अनुभूति जितनी निकट और तीव्र होगी दूसरे का अनुभूत सत्य हमारे समीप उतना ही असन्दिग्ध होकर आ सकेगा। 'तुमने जिसे पानी समझा वह बालू की चमक है', तुमने जिसे काला देखा वह नीला है, तुमने जिसे कोमल पाया वह कठोर

है, आदि आदि कह कर हम दूसरे मे, स्वयं उसीके इन्द्रियजन्य ज्ञान के प्रति, अविश्वास उत्पन्न कर सकते है, परन्तु 'तुम्हे जो कॉटा चुभने की पीडा हुई वह भ्रान्ति है' यह हमसे असख्य वार सुनकर भी कोई अपनी पीडा के अस्तित्व मे सन्देह नही करेगा।

जीवन के निश्चित विन्दुओ को जोडने का कार्य हमारा मस्तिष्क कर लेता है पर इस क्रम मे वनी परिधि मे सजीवता के रंग भरने की क्षमता हृदय मे ही सम्भव है। काव्य या कला मानो इन दोनो का सन्धिपत्र है जिसके अनुसार वुद्धिवृत्ति झीने वायुमण्डल के समान विना भार डाले हुए ही जीवन पर फैली रहती है और रागात्मिका वृत्ति उसके धरातल पर, सत्य को अनन्त रग रूपो में चिर नवीन स्थिति देती रहती है। अत कला का सत्य जीवन की परिधि मे सौन्दर्य के माध्यम द्वारा व्यक्त अखण्ड सत्य है।

सौन्दर्य सम्बन्धी समस्या भी कुछ कम उलझी हुई नही है। वाह्य जगत अनेक रूपात्मक है और उन रूपो का, सुन्दर तथा कुरूप मे एक व्यावहारिक वर्गीकरण भी हो चुका है। क्या कला इस वर्गीकरण की परिधि मे आनेवाले सौन्दर्य्य को ही सत्य का माध्यम वना कर शेप को छोड दे ? केवल वाह्य रेखाओ और रगो का सामञ्जस्य ही सौन्दर्य कहा जावे तो प्रत्येक भूखण्ड का मानव-समाज ही नही प्रत्येक व्यक्ति भी अपनी रुचि मे दूसरे से भिन्न मिलेगा। किसके रुचि-वैचित्र्य के अनुसार सामञ्जस्य की परिभापा वनाई जावे यह प्रश्न सत्य से भी अधिक जटिल हो उठेगा।

सत्य की प्राप्ति के लिए काव्य और कलाये जिस सौन्दर्य का सहारा लेते है वह जीवन की पूर्णतम अभिव्यक्ति पर आश्रित है, केवल वाह्य रूपरेखा पर नही। प्रकृति का अनन्त वैभव, प्राणिजगत की अनेकात्मक गतिशीलता, अन्तर्जगत की रहस्यमयी विविवता सव कुछ इनके सौन्दर्यकोप के अन्तर्गत है और इसमें से क्षुद्रतम वस्तु के लिए भी ऐसे भारी मुहूर्त्त आ उपस्थित होते है जिनमे वह पर्वत के समकक्ष खडी होकर ही सफल हो सकती है और गुरुतम वस्तु के लिए भी ऐसे लघु क्षण आ पहुँचते है जिनमे वह छोटे तृण के साथ वैठ कर ही कृतार्थ वन सकती है।

जीवन का जो स्पर्श विकास के लिए अपेक्षित है उसे पाने के उपरान्त, छोटा, वडा, लघु, गुरु, सुन्दर, विरूप, आकर्पक, भयानक, कुछ भी कलाजगत से वहिष्कृत नही किया जाता। उजले कमलो की चादर जैसी चाँदनी मे मुस्कराती हुई विभावरी अभिराम है, पर अँधेरे के स्तर पर स्तर ओढ कर विराट वनी हुई काली रजनी भी कम सुन्दर नही। फूलो के भार से झुक झुक पडनेवाली लता कोमल है पर शून्य नीलिमा की ओर विस्मित वालक सा ताकनेवाला ठूँठ भी कम सुकुमार नही। अविरत जलदान से पृथ्वी को कँपा देनेवाला वादल ऊँचा है पर एक वूँद आँसू के भार से नत और कम्पित तृण भी कम उन्नत नही। गुलाव के रग और नवनीत की कोमलता मे ककाल छिपाए हुए रूपसी कमनीय है, पर झुर्रियो में जीवन का विज्ञान लिखे हुए वृद्ध भी कम आकर्पक नही। वाह्य जीवन की कठोरता, सघर्प, जय पराजय सव मूल्यवान है पर अन्तर्जगत की कल्पना, स्वप्न, भावना आदि भी कम अनमोल नही।

सत्य पर जीवन का सुन्दर तानावाना वुनने के लिए कला-सृष्टि ने स्थूल-सूक्ष्म सभी विपयो को अपना उपकरण वनाया। वह पापाण की कठोर स्थूलता से रग-रेखाओ की निश्चित सीमा, उससे ध्वनि की क्षणिक स्थिति और तव शब्द की सूक्ष्मव्यापकता तक पहुँची अथवा किसी और क्रम से यह जान लेना वहुत सहज नही। परन्तु शब्द के विस्तार मे कला-सृजन को पापाण की मूर्त्तिमत्ता, रंग-रेखा की सजीवता, स्वर का माधुर्य सव कुछ एकत्र कर लेने की सुविधा प्राप्त हो गई। काव्य मे कला का उत्कर्प एक ऐसे विन्दु तक पहुँच गया, जहाँ से वह ज्ञान को भी सहायता दे सका।

उपयोग की कला और सौन्दर्य की कला को लेकर वहुत से विवाद सम्भव होते रहे, परन्तु यह भेद मूलत एक दूसरे से वहुत दूरी पर नही ठहरते।

कला शब्द से किसी निर्मित पूर्ण खण्ड का ही वोध होता है और कोई भी निर्माण अपनी अन्तिम स्थिति में जितना सीमित है आरम्भ मे उतना ही फैला हुआ मिलेगा। उसके पीछे स्थूल जगत का अस्तित्व, जीवन की स्थिति, किसी अभाव की अनुभूति, पूर्त्ति का आदर्श, उपकरणो की खोज, एकत्रीकरण की कुशलता आदि आदि का जो इन्द्रजाल रहता है उसके अभाव में निर्माण की स्थिति शून्य के अतिरिक्त कौन सी सज्ञा पा सकेगी! चिडिया का कलरव कला न होकर कला का विपय हो सकेगा पर मनुष्य के गीत को कला कहना होगा। एक में वह सहज प्रवृत्ति मात्र है। पर दूसरे ने सहज प्रवृत्ति के आधार पर अनेक स्वरो को विशेप सामञ्जस्यपूर्ण स्थिति में रख रख कर एक विशेप रागिनी की सृष्टि की है जो अपनी सीमा मे जीवनव्यापी सुख-दुखो की अनुभूति को अक्षय रखती है। इस प्रकार प्रत्येक कला-कृति के लिए निर्माण सम्वन्धी विज्ञान की भी आवश्यकता होगी और उस विज्ञान की सीमित रेखाओ में व्यक्त होने वाले जीवन के व्यापक सत्य की अनुभूति भी। जव हमारा ध्यान किसी एक पर ही केन्द्रित हो जाता है तव दोनो को जोडनेवाली कडियाँ अस्पष्ट होने लगती है।

एक कृति को ललित कह कर चाहे हम जीवन के, दृष्टि से ओझल शिखर पर प्रतिष्ठित कर आवें और दूसरी को उपयोगी का नाम देकर चाहे जीवन के धूलभरे प्रत्यक्ष चरणो पर रख दें परन्तु उन दोनो ही की स्थिति जीवन से वाहर सम्भव नही। उनकी दूरी हमारे

विकास-क्रम से बनी है कुछ उनकी तात्विक भिन्नता से नही। नीचे की पहली सीढी से चढकर जब हम ऊपर की अन्तिम सीढी पर खडे हो जाते है तब उन दोनो की दूरी हमारे आरोह-क्रम की सापेक्ष है—स्वय एक एक तो न वे नीची है न ऊँची।

व्यावहारिक जगत मे हमने पहले पहले खाद्य, आच्छादन, छाया आदि की समस्याओ को जिन मूलरूपो मे सुलझाया था उन्हे यदि आज के व्यजन, वस्त्राभूषण और भवन के ऐन्द्रजालिक विस्तार मे रख कर देखे, तो वे कला के स्थूल और सूक्ष्म उपयोग से भी अधिक रहस्यमय हो उठेगे। जो वाह्य जगत मे सहज था वह अन्तर्जगत मे भी स्वाभाविक हो गया, अत उपयोग सम्बन्धी स्थूलता सूक्ष्म होते होते एक रहस्यमय विस्तार मे हमारी दृष्टि से ओझल हो गई—और तब हम उसका निकटवर्ती छोर पकड कर दूसरे को अस्तित्वहीन कह कह कर खोजने की चिन्ता से मुक्त होने लगे।

सत्य तो यह है कि जब तक हमारे सूक्ष्म अन्तर्जगत का वाह्य जीवन मे पग-पग पर उपयोग होता रहेगा तब तक कला के सूक्ष्म उपयोग सम्बन्धी विवाद भी विशेप महत्व नही रख सकते। हमारे जीवन मे सूक्ष्म और स्थूल की जैसी समन्वयात्मक स्थिति है वही कला को, केवल स्थूल या केवल सूक्ष्म मे निर्वासित न होने देगी। जब हम एक व्यक्ति के कार्य को स्वीकार करेगे तब उसकी पटभूमिका बने हुए वायवी स्वप्न, सूक्ष्म आदर्श, रहस्यमयी भावना आदि का भी मूल्य आँकना आवश्यक हो जायगा। और कला यदि उस वातावरण का ऐसा परिचय देती है जो कार्य से न दिया जा सकेगा तो जीवन को उसके लिए भीतर वाहर के सभी द्वार खोलने पडेगे।

[२]

उपयोग की ऐसी निम्नोन्नत भूमियाँ हो सकती है जो अपने वाह्य रूपो मे एक दूसरी से सर्वथा भिन्न जान पडे; परन्तु जीवन के व्यापक धरातल पर उनके मूल्य मे विशेष अन्तर नही रहता।

हमारी शिराओ मे सञ्चरित जीवन-रस और दूर मिट्टी मे उत्पन्न अन्न के उपयोग मे प्रत्यक्षत कितना अन्तर और अप्रत्यक्षत. कैसी एकता है यह कहने की आवश्यकता नही। रोगी की व्याधिविशेप के लिए शस्त्रविशेष उपयोगी हो सकता है, परन्तु उसके सिरहाने किसी सहृदय द्वारा रखा हुआ अधखिला गुलाब का फूल भी कम उपयोगी नही। अपनी वेदना मे छटपटाता हुआ वह, उस फूल की धीरे धीरे खिलने और हौले हौले झडने वाली पखडियो को देख देख कर. कै वार विश्राम की साँस लेता है, किस प्रकार अपने अकेलेपन को भर देता है, कितने भावो की सम विषम भूमियो के पार आता जाता है और कैसे चिन्तन के क्षणो मे अपने आपको खोता पाता है, यह चाहे हमारे लिए प्रत्यक्ष न हो, परन्तु रोगी के जीवन मे तो सत्य रहेगा ही। चतुर चिकित्सक, रोग का निदान, उपयुक्त ओषधि और पथ्य आदि का उपयोग स्पष्ट है, परन्तु रोगी की स्वस्य इच्छाशक्ति, वातावरण का अनिर्वचनीय सामञ्जस्य, सेवा करने वाले का हृदयगत स्नेह, सद्भाव आदि उपयोग मे अप्रत्यक्ष होने के कारण कम महत्व पूर्ण है यह कहना अपनी भ्रान्ति का परिचय देना होगा।

जब केवल शारीरिक स्थिति से सम्बन्ध रखनेवाला उपयोग भी इतना जटिल है तब सम्पूर्ण जीवन को अपनी परिधि मे घेरने वाले उपयोग का प्रश्न कितना रहस्यमय हो सकता है यह स्पष्ट है।

जिस प्रकार एक वस्तु के स्थूल से लेकर सूक्ष्म तक असख्य उपयोग है उसी प्रकार एक जीवन को, सूक्ष्मतम से लेकर स्थूलतम तक अनन्त परिस्थितियो के बीच से आगे बढना होता है। इसके अतिरिक्त मनुष्य के अभाव और उनकी पूर्तियो मे इतनी सख्यातीत विविधता है, उसके कार्य-कारण के सम्बन्ध मे इतनी मापहीन व्यापकता है कि उपयोगविशेष की एक रेखा से समस्त जीवन को घेर लेने का प्रयास असफल ही रहेगा। मनुष्य का जीवन इतना एकागी नही कि उसे हम केवल अर्थ, केवल काम या ऐसी ही किसी एक कसौटी पर परख कर सम्पूर्ण रूप से खरा या खोटा कह सके। कपटी से कपटी लुटेरा भी अपने साथियो के साथ जितना सच्चा है उसे देखकर महान सत्यवादी भी लज्जित हो सकता है। कठोर से कठोर अत्याचारी भी अपनी सन्तान के प्रति इतना कोमल है कि कोई भावुक भी उसकी तुलना मे न ठहरेगा। उद्धत से उद्धत वर्वर भी अपने माता पिता के सामने इतना विनत मिलता है कि उसे नम्र शिष्य की सज्ञा देने की इच्छा होती है। साराश यह कि जीवन के एक छोर से दूसरे छोर तक जो, एक स्थिति मे रह सके ऐसा जीवित मनुष्य सम्भव ही नही, अत एकान्त उपयोग की कल्पना ही सहज है। जिस चढे हुए धनुष की प्रत्यञ्चा कभी नही उतरती वह लक्ष्यवेध के काम का नही रहता। जो नेत्र एक भाव मे स्थिर है, जो ओठ एक मुद्रा मे जड़ है, जो अग एक स्थिति मे अचल है वे चित्र या मूर्त्ति मे ही अकित रह सकते है। जीवन की गतिशीलता मे विश्वास कर लेने पर मनुष्य की असख्य परिस्थितियो और विविध आवश्यकताओ मे विश्वास करना अनिवार्य हो उठता है और अभाव की विविधता से उपयोग की बहुरूपता एक अविच्छिन्न सम्बन्ध मे बँधी है। यह सत्य है कि जीवन मे किसी आवश्यकता का अनुभव नित्य होता रहता है और किसी का यदा कदा, परन्तु निरन्तर अनुभूत अभावो की पूर्त्ति ही पूर्त्ति है और जिनका अनुभव ऐसा नियमित नही वे अभाव ही नही ऐसी धारणा भ्रान्तिपूर्ण है।

कभी कभी एकरस अनेक वर्षो की तुलना मे सहानुभूति, स्नेह, सुख-दुख के कुछ क्षण कितने मूल्यवान ठहरते है, इसे कौन नही

जानता! अनेक बार, व्यक्ति के जीवन मे एक छन्द, एक चित्र या एक घटना ने अभूतपूर्व परिवर्तन सम्भव कर दिया है। कारण स्पष्ट है। जब कवि, चित्रकार या सयोग के मार्मिक सत्य ने, उस व्यक्ति को, एक क्षणिक कोमल मानसिक स्थिति मे, छू पाया तब वे क्षण अनन्त कोमलता और करुणा के सौन्दर्य-द्वार खोलने में समर्थ हो सके। ऐसे कुछ क्षण युगो से अधिक मूल्यवान अत उपयोगी मान लिये जायँ तो आश्चर्य की बात नही।

वास्तव मे जीवन की गहराई की अनुभूति के कुछ क्षण ही होते है, वर्ष नही। परन्तु यह क्षण निरन्तरता से रहित होने के कारण कम उपयोगी नही कहे जा सकते। जो क्रूर मनुष्य सौ-सौ शास्त्रो के नित्य मनन से कोमल नही बन पाता वह यदि एक छोटे से निर्दोष बालक के सरल और आकस्मिक प्रश्न मात्र से द्रवित हो उठता है तो वह क्षणिक प्रश्न शास्त्र-मनन की निरन्तरता से अधिक उपयोगी क्यो न माना जावे! एक बाणविद्ध क्रौञ्च से प्रभावित ऋषि 'मा निषाद प्रतिष्ठात्व'—कह कर यदि प्रथम श्लोक और आदिकाव्य की रचना में समर्थ हो सका तो उस क्षुद्र पक्षी की व्यथा को, मनीषी की ज्ञानगरिमा से अधिक मूल्य क्यो न दिया जावे! यदि एक वैज्ञानिक, फल के गिरने से पृथ्वी की आकर्षण-शक्ति का पता लगा सका तो उस तुच्छ फल का टूटना, पर्वतो के टूटने से अधिक महत्वपूर्ण क्यो न समझा जावे!

यदि नित्य और नियमित स्थूल ही उपयोग की कसौटी रहे तो शरीर की कुछ आवश्यकताओ के अतिरिक्त और कुछ भी, महत्व की परिधि मे नही आता। परन्तु हमारे इस निष्कर्ष को जीवन तो स्वीकार करे! बुद्धि ने अपनी सीमा मे स्थूलतम से सूक्ष्मतम तक सब कुछ ज्ञेय माना है और हृदय ने अपनी परिधि में उसे सवेदनीय। जीवन ने इन दोनो को समान रूप से स्वीकृति देकर इस दोहरे उपयोग को असख्य विभिन्न और ऊँचे नीचे स्तरो मे विभाजित कर डाला है। जब इनमे से एक को लक्ष्य बनाकर हम जीवन का विकास चाहते है तब हमारा प्रयास अपनी दिशा मे गतिशील होकर भी सम्पूर्ण जीवन को सामञ्जस्यपूर्ण गति नही देता।

जीवन की अनिश्चित से अनिश्चित स्थिति भी उपयोग के प्रश्न को एकागी नही बना पाती। युद्ध के लिए प्रस्तुत सैनिक की स्थिति से अधिक अनिश्चित स्थिति और किसी की सम्भव नही, परन्तु उस स्थिति में भी जीवन, भोजन, आच्छादन और अस्त्रशस्त्र के उपयोग मे ही सीमित नही हो जाता। मस्तिष्क और हृदय को क्षण भर विश्राम देने वाले सुख के साधन, प्रिय जनो के स्नेह भरे सन्देश, रक्षणीय वस्तुओ के सम्बन्ध मे ऊँचे-ऊँचे आदर्श, जय के सुनहले रुपहले स्वप्न, अडिग साहस और विश्वास की भावना, अन्तश्चेतना का अनुशासन आदि मिलकर ही तो वीर को वीरता से मरने और सम्मान से जीने की शक्ति दे सकते है। पौष्टिक भोजन, झिलमिलाते कवच और चकाचौध उत्पन्न करनेवाले अस्त्र-शस्त्र मात्र वीर हृदय का निर्माण नही करते, उसके निर्मायक उपकरण तो अन्तर्जगत मे छिपे रहते है। यदि हम अन्तर्जगत के वैभव को अनुपयोगी सिद्ध करना चाहे तो कवच मे यन्त्रचालित काठ के पुतले भी खडे किये जा सकते है, क्योकि जीवित मनुष्य की तुलना मे उनकी आवश्यकताये नही के बराबर और उपयोग सहस्रगुण अधिक रहेगे।

उपयोग की ऐसी ही भ्रान्ति पर तो हमारा यन्त्रयुग खडा है। परन्तु ससार ने, हँसने रोने थकने मरनेवाले मनुष्य को खोकर जो वीतराग, अथक और अमर देवता पाया है उसने, जीवन को, आत्महत्या का वरदान देने के अतिरिक्त और क्या किया! समाज और राष्ट्र मे मनुष्य की स्थिति न केवल तात्कालिक है और न अनिश्चित, अत उसके जीवन से सम्बन्ध रखनेवाले उपयोग को, अधिक व्यापक धरातल पर स्थायित्व की रेखाओ मे देखना होगा।

उपयोगिता के प्रश्न के साथ एक कठिनाई और है। जैसे जैसे उपयोग की भूमि ऊँची होती जाती है वैसे वैसे वह प्रत्यक्षता मे न्यून और व्यापकता मे अधिक होती चलती है। सबसे नीची भूमि जिस अश तक सापेक्ष है सबसे ऊँची उसी अश तक निरपेक्ष। उपयोगिता की दृष्टि से खाद्य, भिन्न-भिन्न व्यक्तियो के स्वास्थ्य, रुचि आदि की अपेक्षा रखता है, परन्तु उससे बना रस, रोगी स्वस्थ आदि सभी प्रकार के व्यक्तियो के लिए समान रूप से उपयोगी रहेगा। इसीसे उपयोग की प्रत्यक्ष और निम्न भूमि पर जैसी विभिन्नता मिलती है वैसी उन्नत पर अप्रत्यक्ष भूमि पर सहज नही।

'दूसरे के दु ख से सहानुभूति रखो' यह सिद्धान्त जब व्यावहारिक जीवन मे केवल विधिनिषेध के रूप मे आता है तब भिन्न-भिन्न व्यक्तियो मे इसके प्रयोग के रूप विभिन्न रहते है और प्रयोग से छुटकारा देनेवाले तर्क विविध। परन्तु जब यही इतिवृत्त, हमारी भावभूमि पर, हृदय की प्रेरणा बनकर उपस्थित होता है तब न प्रयोगो में इतनी विभिन्नता दिखाई देती है और न तर्क की आवश्यकता रहती है। किसी का दु ख जब हमारे हृदय को स्पर्श कर चुका तब हम उसके और अपने सम्बन्ध को साधारण लौकिक-आदान प्रदान की तुला पर तोलने में असमर्थ ही रहेगे।

यदि हम किसी के दु ख को बँटा लेगे तो दूसरा भी हमारे दु ख में सहभागी होगा, यह सामाजिक नियम न हमे स्मरण रहना है और न हम स्मरण करना चाहेगे। इसीसे महानतम त्यागो के पीछे विधिनिषेधात्मक नैतिकता के सस्कार चाहे रहे, परन्तु स्वय विधिनिषेध की सतर्क चेतना सम्भव नही रहती। सत्य बोलना उचित है, इस सिद्धान्त को गणित के नियम के समान रट-रट कर जो सत्य बोलने की शक्ति पाता है वह सच्चा सत्यवादी नही। सत्यवादी तो उसे कहेगे जिसमे, सत्य बोलना, विधिनिषेध की सीमा पार कर स्वभाव ही बन

चुका है। उपयोग की इस सूक्ष्म पर व्यापक भूमि पर सत्य मे जैसी एकता है, स्थूल और सकीर्ण धरातल पर वैसी ही अनेकता; इसी कारण ससार भर के दार्शनिक, धर्म्मसस्थापक, कवि, आदि के सत्य मे, देश काल और व्यक्ति की दृष्टि से विभिन्नता होने पर भी मूलगत एकता मिलती है।

सत्य तो यह है कि उपयोग का प्रश्न जीवन के समान ही निम्न-उन्नत, सम-विषम, प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष भूमियो मे समान रूप से व्याप्त है और रहेगा।

जहाँ तक काव्य तथा अन्य ललित कलाओ का सम्बन्ध है वे उपयोग की उस उन्नत भूमि पर स्थायी हो पाती है जहाँ उपयोग सामान्य रह सके। करुण रागिनी, उपयोग की जिस भूमि पर है, वहाँ वह प्रत्येक श्रोता के हृदय मे एक करुण भाव जागृत करके ही सफल हो सकेगी, हर्ष या उल्लास का नही। व्यक्ति के सस्कार, परिस्थिति, मानसिक स्थिति आदि के अनुसार उसकी मात्राओ मे न्यूनाधिक्य हो सकता है, परन्तु उसके उपयोग मे इतनी विभिन्नता सम्भव नही कि एक मे हर्ष का सञ्चार हो, और दूसरे मे विषाद का उद्रेक।

जीवन को गति देने के दो ही प्रकार है—एक तो बाह्य अनुशासनो का सहारा देकर उसे चलाना और दूसरे, अन्तर्जगत मे ऐसी स्फूर्ति उत्पन्न कर देना जिससे सामञ्जस्यपूर्ण गतिशीलता अनिवार्य हो उठे। अन्तर्जगत मे प्रेरणा बननेवाले साधनो की स्थिति, उस बीज के समान है जिसे मिट्टी को, रग-रूप-रस आदि मे व्यक्त होने की सुविधा देने के लिए स्वय उसके अन्धकार मे समाकर दृष्टि से ओझल हो जाना पडता है।

विधिनिषेध की दृष्टि से महान से महान कलाकार के पास उतना भी अधिकार नही जितना चौराहे पर खडे सिपाही को प्राप्त है। वह न किसी को आदेश दे सकता है और न उपदेश, और यदि देने की नासमझी करता भी है तो दूसरे उसे न मानकर समझदारी का परिचय देते है। वास्तव मे कलाकार तो जीवन का ऐसा सगी है जो अपनी आत्म-कहानी मे, हृदय हृदय की कथा कहता है और स्वय चलकर पग-पग के लिए पथ प्रशस्त करता है। वह बौद्धिक परिणाम नही किन्तु अपनी अनुभूति दूसरे तक पहुँचाता है और वह भी एक विशेषता के साथ। काँटा चुभा कर काँटे का ज्ञान तो ससार दे ही देगा, परन्तु कलाकार बिना काँटा चुभने की पीडा दिये हुए ही उसकी कसक की तीव्रमधुर अनुभूति दूसरे तक पहुँचाने मे समर्थ है। अपने अनुभवो की गहराई मे, वह जिस जीवन-सत्य से साक्षात् करता है उसे दूसरे के लिए सवेदनीय बनाकर कहता चलता है 'यह सौन्दर्य तुम्हारा ही तो है पर मैने आज देख पाया'। जीवन को स्पर्श करने का उसका ढंग ऐसा है कि हम उसके सुख-दु ख, हर्ष-विषाद, हार-जीत सब कुछ प्रसन्नतापूर्वक ही स्वीकार करते है—दूसरे शब्दो मे हम बिना खोजने का कष्ट उठाये हुए ही कलाकार के सत्य मे अपने आपको पाते है। दूसरे के बौद्धिक निष्कर्ष तो हमे अपने भीतर उनका प्रतिबिम्ब खोजने पर बाध्य करते है परन्तु अनुभूति हमारे हृदय से तादात्म्य करके प्राप्ति का सुख देती है।

उपदेशो के विपरीत अर्थ लगाये जा सकते है, नीति के अनुवाद भ्रान्त हो सकते है, परन्तु सच्चे कलाकार की सौन्दर्य-सृष्टि का, अपरिचित रह जाना सम्भव है, बदल जाना सम्भव नही। मनु की जीवन-स्मृतियो मे अनर्थ की सम्भावना है पर वाल्मीकि का जीवन-दर्शन श्लेषहीन ही रहेगा। इसीसे कलाकारो के मठ नही निर्मित हुए, महन्त नही प्रतिष्ठित हुए, साम्राज्य नही स्थापित हुए और सम्राट नही अभिषिक्त हुए। कवि या कलाकार अपनी सामान्यता मे ही सबका ऐसा अपना बन गया कि समय समय पर, धर्म, नीति आदि को, जीवन के निकट पहुँचने के लिए उससे परिचय-पत्र माँगना पड़ा।

कवि मे दार्शनिक को खोजना बहुत साधारण हो गया है। जहाँ तक सत्य के मूल रूप का सम्बन्ध है वे दोनो एक दूसरे के अधिक निकट है अवश्य, पर साधन और प्रयोग की दृष्टि से उनका एक होना सहज नही। दार्शनिक बुद्धि के निम्न स्तर से अपनी खोज आरम्भ करके उसे सूक्ष्म बिन्दु तक पहुँचा कर सन्तुष्ट हो जाता है—उसकी सफलता यही है कि सूक्ष्म सत्य के उस रूप तक पहुँचने के लिए वही बौद्धिक दिशा सम्भव रहे। अन्तर्जगत का सारा वैभव परख कर सत्य का मूल्य आँकने का उसे अवकाश नही, भाव की गहराई मे डूब कर जीवन की थाह लेने का उसे अधिकार नही। वह तो चिन्तन-जगत का अधिकारी है। बुद्धि, अन्तर का बोध कराकर एकता का निर्देश करती है और हृदय एकता की अनुभूति देकर अन्तर की ओर सकेत करता है। परिणामत. चिन्तन की विभिन्न रेखाओ का समानान्तर रहना अनिवार्य हो जाता है। साख्य जिस रेखा पर बढ कर लक्ष्य की प्राप्ति करता है वह वेदान्त को अगीकृत न होगी और वेदान्त जिस क्रम से चलकर सत्य तक पहुँचता है उसे योग स्वीकार न कर सकेगा।

काव्य मे बुद्धि हृदय से अनुशासित रह कर ही सक्रियता पाती है, इसीसे उसका दर्शन न बौद्धिक तर्कप्रणाली है और न सूक्ष्मबिन्दु तक पहुँचानेवाली विशेष विचार-पद्धति। वह तो जीवन को, चेतना अनुभूति के समस्त वैभव के साथ, स्वीकार करता है। अत कवि का दर्शन, जीवन के प्रति उसकी आस्था का दूसरा नाम है। दर्शन मे, चेतना के प्रति नास्तिक की स्थिति भी सम्भव है, परन्तु काव्य मे अनुभूति के प्रति अविश्वासी कवि की स्थिति असम्भव ही रहेगी। जीवन के अस्तित्व को शून्य प्रमाणित करके भी दार्शनिक बुद्धि के सूक्ष्म बिन्दु पर विश्राम कर सकता है परन्तु यह अस्वीकृति कवि के अस्तित्व को, डाल से टूटे पत्ते की स्थिति दे देती है।

दोनो का मूल अन्तर न जान कर ही हम किसी भी कलाकार मे वुद्धि की एकरूप, एकदिशा वाली रेखा ढूंढने का प्रयास करते हैं और असफल होने पर खीझ उठते है। इसका यह अर्थ नही कि दर्शन और कवि की स्थिति मे विरोध है। कोई भी कलाकार दर्शन ही क्या धर्म, नीति आदि का विशेषज्ञ होने के कारण ही कला-सृजन के उपयुक्त या अनुपयुक्त नही ठहरता। यह समस्या तो तव उत्पन्न होती है जव वह अपनी कला को ज्ञानविशेष का एकागी शुष्क और वौद्धिक अनुवाद मात्र वनाने लगता है।

कवि का वेदान्त-ज्ञान, जव अनुभूतियो से रूप, कल्पना से रग और भावजगत से सौन्दर्य पाकर साकार होता है तव उसके सत्य मे जीवन का स्पन्दन रहेगा, वुद्धि की तर्कश्रृखला नही। ऐसी स्थिति मे उसका पूर्ण परिचय न अद्वैत दे सकेगा और न विशिष्टाद्वैत। यदि कवि ने इतनी सजीव साकारता के विना ही अपने ज्ञान को कला के सिंहासन पर अभिषिक्त कर दिया तो वह विकलाग मूर्त्ति के समान न निरा देवता रहता है और न कोरा पाषाण। कला, जीवन की विविधता समेटती हुई आगे वढती है, अत सम्पूर्ण जीवन को गला पिघला कर तर्कसूत्र मे परिणत कर लेना उसका लक्ष्य नही हो सकता।

व्यष्टि और समष्टि मे समान रूप से व्याप्त जीवन के हर्ष-शोक, आशा-निराशा, सुख-दु ख आदि की सख्यातीत विविधता को स्वीकृति देने ही के लिए कला-सृजन होता है। अत कलाकार के जीवन-दर्शन में हम उसका जीवनव्यापी दृष्टिकोण मात्र पा सकते है। जो सम-विषम परिस्थितियो की भीड मे नही मिल जाता, सरल-कठिन सघर्षों के मेले मे नही खो जाता और मधुर-कटु सुख-दुखो की छाया मे नही छिप जाता वही व्यापक दृष्टिकोण कवि का दर्शन कहा जायगा। परन्तु ज्ञान-क्षेत्र और काव्यजगत के दर्शन मे उतना ही अन्तर रहेगा जितना दिशा की शून्य सीधी रेखा और अनन्त रग रूपो से वसे हुए आकाश में मिलता है।

काव्य की परिधि मे वाह्य और अन्तर्जगत दोनो आ जाने के कारण अभिव्यक्ति के स्वरूप मतभेदो को जन्म देते रहे है। केवल वाह्य जगत की यथार्थता काव्य का लक्ष्य रहे अथवा उस यथार्थ के साथ सम्भाव्य यथार्थ अर्थात् आदर्श भी व्यक्त हो यह प्रश्न भी उपेक्षणीय नही। यथार्थ और आदर्श दोनो को यदि चरम सीमा पर रख कर देखा जाय तो एक प्रत्यक्ष इतिवृत्त मे विखर जायगा और दूसरा असम्भव कल्पनाओ मे वँध जायगा। ऐसे यथार्थ और आदर्श की स्थिति जीवन मे ही कठिन हो जाती है फिर उसकी काव्य-स्थिति के सम्वन्ध मे क्या कहा जावे!

हमारे चारो ओर एक प्रत्यक्ष जगत है। इसका ज्ञान प्राप्त करने के लिए हमारी ज्ञानेन्द्रियो से लेकर सूक्ष्म वैज्ञानिक यन्त्रो तक एक विस्तृत करण-जगत वन चुका है और वनता जा रहा है। वाह्य जगत के सम्वन्ध मे विज्ञान और ज्ञान की विचित्र स्थिति है। जहाँ तक विज्ञान का प्रश्न है उसने इन्द्रियजन्य ज्ञान मे सवसे पूर्ण प्रत्यक्ष को भी, अविश्वसनीय प्रमाणित कर दिया है। अपनी अपूर्णता नही पूर्णता मे भी दृष्टि, रगो के अभाव मे रग ग्रहण करने की क्षमता रखती है और रूपो की उपस्थिति मे भी उनकी यथार्थता वदल सकती है। इसके अतिरिक्त प्रत्यक्ष ज्ञान के ऊपर, अनुमान, स्मृति आदि की अप्रत्यक्ष छाया फैली रहती है। पर इतना सव कह सुन चुकने पर भी यह स्पष्ट है कि हम ऊपर नीलिमा के स्थान में खोखला आकाश, टिमटिमाते ग्रह-नक्षत्रो के स्थान मे, अधर मे लटक कर वेग से घूमने वाले विशाल व्रह्माण्ड और पैरो तले समतल धरती के स्थान मे ढालू और दौडते हुए गोलाकार का अनुभव कर प्रसन्न न हो सकेंगे। हमे यह विशिष्ट ज्ञान उपयोग के लिए चाहिए, पर उस उपयोग के उपभोग के लिए हम अपना सहज अनुभव ही चाहते रहेंगे। इसी कारण वैज्ञानिक ज्ञान को सीख कर भूलता है और कलाकार भूल कर सीखता है। यथार्थ के सम्वन्ध मे यदि केवल वैज्ञानिक दृष्टि रखे तो वह काव्य को लक्ष्यभ्रष्ट कर देगी, क्योकि आनन्द के लिए उसकी परिधि मे स्थान नही। विज्ञान का यथार्थ, स्वय विभक्त और निर्जीव होकर ज्ञान की उपलब्धि सम्भव कर देता है, पर काव्य के यथार्थ को अपनी सीमित सजीवता से ही एक व्यापक सजीवता और अखण्डता का परिचय देना होगा। और केवल ज्ञानाश्रयी कवि यथार्थ को ऐसे उपस्थित करने की शक्ति नही रखता।

साधारणत मनुष्य और ससार की क्रिया प्रतिक्रिया से उत्पन्न ज्ञान अनुभूति सव, सस्कारो का ऐसा रहस्यमय तानावाना वुनते चलते है जो एक ओर हृदय और मस्तिष्क को जोडे रहता है और दूसरी ओर जीवन के लिए एक विस्तृत पीठिका प्रस्तुत कर देता है। जिसके पास यह सस्कार-आकाश जितना व्यापक, सामञ्जस्यपूर्ण और सुलझा हुआ होगा वह यथार्थ को उतनी ही सफल जीवन-स्थिति दे सकता है। इस सस्कार की छिन्नभिन्नता मे हमें ऐसा यथार्थवादी मिलेगा जो जीवन को विरूप खण्डो मे वाँटता चलता है और इसके नितान्त अभाव मे वह विक्षिप्त सम्भव है जो सुखदुखो का अनुभव करने पर भी उन्हे कोई सामान्य आधारभित्ति नही दे पाता।

ससार मे प्रत्येक सुन्दर वस्तु उसी सीमा तक सुन्दर है, जिस सीमा तक वह जीवन की विविधता के साथ सामञ्जस्य की स्थिति वनाये हुए है और प्रत्येक विरूप वस्तु उसी अश तक विरूप है जिस अश तक वह जीवनव्यापी सामञ्जस्य को छिन्न भिन्न करती है। अत यथार्थ का द्रष्टा जीवन की विविधता मे व्याप्त सामञ्जस्य को विना जाने, अपना निर्णय उपस्थित नही कर पाता और करे भी तो उसे जीवन की स्वीकृति नही मिलती। और जीवन के सजीव स्पर्श के विना केवल कुरूप और केवल सुन्दर को एकत्र कर देने का वही परिणाम अवश्य-म्भावी है जो नरक स्वर्ग की सृष्टि का हुआ।

ससार मे सबसे अधिक दण्डनीय वह व्यक्ति है जिसने यथार्थ के कुत्सित पक्ष को एकत्र कर नरक का आविष्कार कर डाला, क्योकि उस चित्र ने मनुष्य की सारी बर्बरता को चुन चुन कर ऐसे ब्योरेवार प्रदर्शित किया कि जीवन के कोने कोने मे नरक गढा जाने लगा। इसके उपरान्त, उसे, यथार्थ के अकेले सुखपक्ष को पुञ्जीभूत कर इस तरह सजाना पडा कि मनुष्य उसे खोजने के लिए जीवन को छिन्न-भिन्न करने लगा।

एकान्त यथार्थवादी काव्य मे यथार्थ के ऐसे ही एकागी प्रतिरूप स्वाभाविक हो जाते है। एक ओर यथार्थद्रष्टा केवल विरूपतायें चुन कर उनसे जीवन को सजा देता है और दूसरी ओर उसके हृदय को चीर-चीर कर स्थूल सुखो की प्रदर्शनी रचता है। केवल उत्तेजक और वीप्साजनक काव्य और कलाओ के मूल मे यही प्रवृत्ति मिलेगी। इन दोनो सीमाओ से दूर रहने के लिए कवि को जीवन की अखण्डता और व्यापकता से परिचित होना होगा, क्योकि इसी पीठिका पर यथार्थ चिरन्तन गतिशीलता पा सकता है।

यथार्थ यदि सुन्दर है तो यह पृष्ठभूमि तरल जल के समान उसे सौ-सौ पुलको मे झुलाती है और यदि विरूप है तो वह तरल कोमलता हिम का ऐसा स्थिर और उज्ज्वल विस्तार बन जाती है जिसकी अनन्त स्वच्छता मे एक छोटा सा धब्बा भी असह्य हो उठता है। इस आधारभित्ति पर जीवन की कुत्सा देखकर हमारा हृदय कॉप जाता है, पर एक अतृप्त लिप्सा से नही भर आता।

यदि यथार्थ को केवल इतिवृत्त का क्रम मान लिया जावे तो भी व्यक्तिगत भावभूमि पर अपनी स्थिति रख कर ही वह काव्य के उपयुक्त सवेदनीयता पा सकता है। इस भावभूमि से सर्वथा निर्वासित इतिवृत्त का सबसे उपयुक्त आश्रयस्थल इतिहास ही रहेगा।

चरम सीमा पर यथार्थ जैसे विक्षिप्त गतिशील है वैसे ही आदर्श निष्क्रियता मे स्थिर हो जाता है। एक विविध उपकरणो का बवडर है और दूसरा पूर्ण निर्मित पर अचल मूर्ति। साधारणत जीवन मे एक ही व्यक्ति यथार्थदर्शी भी है और आदर्शस्रष्टा भी, चाहे उसका यथार्थ कितना ही अपूर्ण हो और आदर्श कितना ही सकीर्ण। जीवन की ऐसी स्थिति की कल्पना तो पशुजगत की कल्पना होगी जिसमे बाह्य ससार का ज्ञान मनुष्य के अन्तर्जगत मे किसी सम्भाव्य ससार की छाया नही ऑकता। जो है, उसके साथ हमारे सक्रिय सहयोग के लिए यह कल्पना आवश्यक है कि इसे कैसा होना चाहिए।

ससार से आदान मात्र मनुष्य को पूर्ण सन्तोष नही देता, उसे प्रदान का भी अधिकार चाहिए और इस अधिकार की विकसित चेतना ही आदर्श का पर्याय है। छोटा सा बालक भी दूसरे की दी हुई वस्तुओ को ग्रहण करने के लिए जितना उत्सुक होगा उन्हे अपनी इच्छा और रुचि के अनुसार रखने, जोडने-तोडने आदि के लिए भी उतना ही आकुल मिलेगा। सभ्यता, समाज, धर्म, काव्य आदि सभी मनुष्य और ससार के इसी चिरन्तन आदान-प्रदान के इतिहास है।

साधारण रूप से आदर्श से यही समझा जाता है कि वह सत्य की जय, असत्य की पराजय आदि आदि जीवन मे असम्भव पर कल्पना मे सम्भव कार्य-कारण का नाम है। इस धारणा के कारण है। सम्भाव्य यथार्थ से सम्बन्ध रखनेवाले अन्तर्जगत के सस्कार हमारे बाह्य आचरण पर विशेष प्रभाव डालते रहते है, इसीसे समय समय पर धर्म नीति आदि ने उन्हे अपने विकास का साधन बनाया। जिस युग का प्रधान लक्ष्य धर्म रहा उसमे सत्य आदि गुणो के आदर्श चरमसीमा तक पहुँच कर ही सफल हो सके। जिस युग का दृष्टिबिन्दु सामाजिक विकास था उसमें कर्तव्य सम्बन्धी आदर्श उच्चतम सीमा तक पहुँच गए। जिस समय सघर्ष की सफलता ही अभीष्ट रही उस समय जय के आदर्श की उज्ज्वलता मे साधनो की मलिनता भी छिप गई। जब, जो विशेषता आवश्यक नही रही तब उससे सम्बन्ध रखनेवाला असाधारण आदर्श, जीवन के पुरातत्व विभाग की स्थायी सम्पत्ति बना दिया गया और साधारण आदर्श गौण रूप से प्रयोग मे आता रहा। कुरुक्षेत्र के युद्ध मे हरिश्चन्द्र की सत्यवादिता का कोई स्थान नही, राम के सघर्ष में बुद्ध की अहिंसा का कोई महत्व नही।

युगविशेष मे उत्पन्न कवियो ने भी अपने युग के आदर्श को असाधारणता के साथ काव्य मे प्रतिष्ठित किया। इतना ही नही, वह आदर्श कही भी पराजित न हो सके, इसकी ओर भी उन्हें सतर्क रहना पडा। फिर भी यह सत्य है कि वे बहुत एकागी नही हो सके। काव्य हमारे अन्तर्जगत मे मुक्ति का ऐसा अनुभव कर चुकता है कि उससे बाह्य जगत के सकेतो का अक्षरश पालन नही हो पाता। रामायणकार ऋषि का दृष्टिबिन्दु कर्तव्य के युग से प्रभावित था अवश्य, पर उसने युग के प्रतिनिधि कर्तव्यपालक की भी त्रुटियो को छिपाने का प्रयास नही किया। राजा के चरम आदर्श तक पहुँच कर भी वह जब साध्वी पर परित्यक्त पत्नी की फिर अग्निपरीक्षा लेना चाहता है, तब वह नारी उस कर्तव्यपालक के पत्नीत्व के बदले मृत्यु स्वीकार कर लेती है। जीवन के अन्त मे एकागी कर्तव्य की जैसी पराजय ऋषिकवि ने अकित की है उसकी रेखा रेखा मे मानो उनका भ्रूभग कहता है—बस इतना ही तो इसका मूल्य था। विजय केन्द्रबिन्दु होने पर भी महाभारत मे असत्य साधनो को उज्ज्वलता नही मिल सकी। सघर्ष सफल हो गया, कह कर भी कवि ने उस सफलता की उजली रेखाओ मे ग्लानि का इतना काला रग भर दिया है कि विजयी ही नही आज का पाठक भी कॉप उठता है।

जीवन के प्रति स्वय आस्थावान होने के कारण कवि का विश्वास भी एक आदर्श बन कर उपस्थित होता है। शकुन्तला की आत्महत्या तो सरल सौन्दर्य और सहज विश्वास की हत्या है; उसे कवि कल्पना मे भी नही अगीकार करेगा, पर उस सौन्दर्य और विश्वास

को ठुकराने वाले दुष्यन्त के पश्चात्ताप में से वह लेश मात्र भी नही घटाता। इतना ही नही, जिस पवित्र सौन्दर्य और मधुर विश्वास की प्राप्ति एक दिन कण्व के साधारण तपोवन मे अनायास हो गई थी, उसी के पुनर्दर्शन के लिए दुष्यन्त को स्वर्ग तक जाने का आयास भी करना पडता है और दिव्यभूमि पर, अपराधी याचक के रूप में खडा भी होना पडता है। साराश यह कि अपने युगसीमित आदर्श को स्वीकार करके भी कवि उसे विस्तृत विविधता के साथ व्यक्त करते रहे हैं। जैसे शिष्य के बनाये पूर्ण चित्र मे भी कलाकार-गुरु अपनी कुशल उँगलियो में थमी तूली से कुछ रेखाये इस तरह घटा बढा देता है, कही कही रग इस तरह हल्के गहरे कर देता है कि उसमें एक नया रहस्य यत्र-तत्र झलकने लगता है, वैसे ही प्राचीन ऋषि-कवियो ने अपने युग की निश्चित रेखाओ और पक्के रगो के भीतर से युगयुगान्तरव्यापी जीवनरहस्य को व्यक्त कर दिया है। आज का युग उनसे इतना दूर है कि उस रहस्यलिपि को नही पढ पाता, अत केवल निश्चित रगरेखा को ही सब कुछ मान बैठता है।

आधुनिक युग मे बुद्धि का आदर्श भी वैसा ही असाधारण हो गया है जैसा किसी समय सत्य, त्याग, कर्तव्य आदि का था। सत्य की विजय अनिवार्य है या मिथ्या का बुरा परिणाम अवश्यम्भावी है आदि मे कार्य-कारण की सम्भाव्य स्थिति भी निश्चित मान ली गई है। परन्तु बौद्धिक विकास की चरम सीमा ही मनुष्य की पूर्णता है, भौतिक उत्कर्ष ही जीवन का एकमात्र लक्ष्य है, आदि मे भी वैसा ही कल्पित कार्य-कारण-सम्बन्ध है, क्योकि जीवन मे न तो सब जगह बुद्धिवादी ही पूर्ण मनुष्य है और न भौतिक विकास का चरमबिन्दु जीवन की एकमात्र सार्थकता है। जब हमारा युग भी अतीत युगो मे स्थान पा लेगा तब नवागत युग हमारे असाधारण बौद्धिक और भौतिक आदर्शो को उसी दृष्टि से देखेगा जिस दृष्टि से हम अपने अतीत आदर्श-वैभव को देखते हैं।

आधुनिक युग के आदर्शों मे ही असाधारणता नही, उनकी काव्य-स्थिति भी वैसी ही एकागी है। आज का कवि भी अपने युग के आदर्शो को काव्य मे प्रतिष्ठित करता है और उनकी एकान्त विजय के सम्बन्ध मे सतर्क रहता है। पर आदर्श को सकीर्ण अर्थ में न ग्रहण करके यदि हम उसे जीवन की एक व्यापक और सामञ्जस्यपूर्ण स्थिति का भावन मात्र मान ले तो वह हमारे एकागी बुद्धिवाद और बिखरे यथार्थ को सन्तुलन दे सकता है।

काव्य मे गोचर जगत तो सहज स्वीकृति पा लेता है, पर स्थूल जगत मे व्याप्त चेतन और प्रत्यक्ष सौन्दर्य मे अन्तर्हित सामञ्जस्य की स्थिति बहुत सहज नही।

हमारे प्राचीन काव्य ने बौद्धिक तर्कवाद से दूर उस आत्मानुभूत ज्ञान को स्वीकृति दी है जो इन्द्रियजन्य ज्ञान सा अनायास पर उससे अधिक निश्चित और पूर्ण माना गया है। इस ज्ञान के आधार सत्य की तुलना, उस आकाश से की जा सकती है जो ग्रहणशक्ति की अनुपस्थिति में अपना शब्दगुण नही व्यक्त करता। इसी कारण ऐसे ज्ञान की उपलब्धि आत्मा के उस सस्कार पर निर्भर है, जो सामान्य सत्य को विशिष्ट सीमा में ग्रहण करने की शक्ति भी देता है और उस सीमित ज्ञानानुभूति को जीवन की व्यापक पीठिका देनेवाला सौन्दर्य-बोध भी सहज कर देता है।

जैसे रूप, रस, गन्ध आदि की स्थिति होने पर भी करण के अभाव या अपूर्णता मे, कभी उनका ग्रहण सम्भव नही होता और कभी वे अधूरे ग्रहण किये जाते हैं, वैसे ही आत्मानुभूत ज्ञान, आत्मा के सस्कार की मात्रा और उससे उत्पन्न ग्रहणशक्ति की सीमा पर निर्भर रहेगा। कवि को द्रष्टा या मनीषी कहनेवाले युग के सामने यही निश्चित तर्कक्रम से स्वतन्त्र ज्ञान रहा।

यह ज्ञान व्यक्तिसामान्य नही, यह कह कर हम उसकी उपेक्षा नही कर सकते क्योकि हमारा प्रत्यक्ष जगत-सम्बन्धी ज्ञान भी इतना सामान्य नही। विज्ञान का भौतिक ज्ञान ही नही नित्य का व्यवहार-ज्ञान भी व्यक्ति की सापेक्षता नही छोडता। व्यक्तिगत रुचि, सस्कार, पूर्वार्जित ज्ञान, ज्ञानकरणो की पूर्णता, अपूर्णता, अभाव आदि मिलकर स्थूल जगत के ज्ञान को इतनी विविधता देते रहते हैं कि हम व्यक्ति के महत्व से ज्ञान का महत्व निश्चित करने पर बाध्य हो जाते हैं। जो ऊँचा सुनता है या जो स्टेथेस्कोप की सहायता से फेफडो का अस्फुट शब्द मात्र सुनता है वे दोनो ही हमारे स्वर-सामञ्जस्य के सम्बन्ध मे कोई निष्कर्ष नहीं दे सकते। पर जो आहट की ध्वनि से लेकर मेघ के गर्जन तक सब स्वर सुनने की क्षमता भी रखता है और विभिन्न स्वरो मे सामञ्जस्य लाने की साधना भी कर चुका है वही इस दिशा मे हमारा प्रमाण है।

समाज, नीति आदि से सम्बन्ध रखनेवाले इन्द्रियानुभूत ज्ञान ही नही सूक्ष्म बौद्धिक ज्ञान के सम्बन्ध मे भी अपने से अधिक पूर्ण व्यक्तियो को प्रमाण मानकर मनुष्य विकास करता आया है। अत अध्यात्म के सम्बन्ध मे ही ऐसा तर्कवाद क्यो महत्व रखेगा! फिर यह आत्मानुभूत ज्ञान इतना विच्छिन्न भी नही जितना समझा जाता है। साधारणत तो प्रत्येक व्यक्ति किसी न किसी अश तक इसका उपयोग करता रहता है। प्रत्यक्ष ज्ञान के साथ स ज्ञान का वैसा ही अज्ञात सम्बन्ध और अव्यक्त स्पर्श है जैसा प्रकृति की प्रत्यक्ष और प्रशान्त निस्तब्धता के साथ आँधी के अव्यक्त पूर्वाभास का हो सकता है, जो स्थितिहीनता मे भी स्थिति रखता है। इसके अव्यक्त स्पर्श का अनुभव कर अनेक बार मनुष्य प्रत्यक्ष प्रमाण, बौद्धिक निष्कर्ष और अनुकूल परिस्थितियो की सीमाये पार कर लेने के लिए विवश हो उठता है।

कठोर विज्ञानवादी के पास भी ऐसा वहुत कुछ वच जाता है जो कार्य-कारण से नही बाँधा जा सकता, स्थूलता के एकान्त उपासक के पास भी वहुत कुछ शेष रह जाता है जो उपयोग की कसौटी पर नही परखा जा सकता। और यदि केवल सख्या ही महत्व रखती हो तो ससार के सब कोनो मे ऐसे व्यक्तियो की स्थिति सम्भव हो सकी है जो आत्मानुभूत ज्ञान का अस्तित्व सिद्ध करते रहे।

अगोचर जगत से सम्वन्ध रखनेवाली रहस्यानुभूति की स्थिति भी ऐसी ही है। जहाँ तक अनुभूति का प्रश्न है वह तो स्थूल और गोचर जगत मे भी सामान्य नही। प्रत्येक व्यक्ति की दृष्टि फूल को फूल ग्रहण कर ले यह स्वाभाविक है, परन्तु सबके अन्तर्जगत मे अनुभूति एक सी स्थिति नही पा सकती। अपने सस्कार, रुचि, सवेदनशीलता के अनुसार कोई फूल से तादात्म्य प्राप्त करके भाव-तन्मय हो सकेगा और कोई उदासीन दर्शक मात्र रह जायगा। स्थूल जगत के सम्पर्क का रूप भी अनुभूति की मात्रा निश्चित कर सकता है। जिसने अगारे उठा उठा कर हाथ को कठोर कर लिया है उसकी उँगलियाँ अगारे पर पड कर भी जलने की तीव्र अनुभूति नही उत्पन्न करेगी पर जिसका हाथ अचानक अगारे पर पड़ गया है उसे छाले का तीव्र मर्मानुभव करना पड़ेगा। जिसने काँटो पर लेटने का अभ्यास कर लिया है उसके शरीर में अनेक काँटो का स्पर्श तीव्र व्यथा नही उत्पन्न करता पर जो चलते चलते अचानक काँटे पर पैर रख देता है उसके लिए एक काँटा ही तीव्र दुखानुभूति का कारण वन जाता है।

परन्तु इन सब खण्डश अनुभूतियो के पीछे हमारे अन्तर्जगत मे एक ऐसा व्यापक, अखण्ड और सवेदनात्मक धरातल भी है जिस पर सारी विविधताये ठहर सकती है। काव्य इसी को स्पर्श कर सवेदनीयता प्राप्त करता है। इसी कारण जिन सुखदुखो की प्रत्यक्ष स्थिति भी हमे तीव्र अनुभूति नही देती उन्ही की काव्य-स्थिति से साक्षात् कर हम अस्थिर हो उठते है।

व्यापक अर्थ मे तो यह कहा जा सकता है कि प्रत्येक सौन्दर्य या प्रत्येक सामञ्जस्य की अनुभूति भी रहस्यानुभूति है। यदि एक सौन्दर्य-अश या सामञ्जस्य-खण्ड हमारे सामने किसी व्यापक सौन्दर्य या अखण्ड सामञ्जस्य का द्वार नही खोल देता तो हमारे अन्तर्जगत का उल्लास से आन्दोलित हो उठना सम्भव नही। इतना ही नही किसी कर्म के सौन्दर्य और सामञ्जस्य की अनुभूति भी रहस्यात्मक हो सकती है, इसीसे मनुष्य ऐसे कर्मो को आलोक-स्तम्भ वना वना कर जीवन-पथ मे स्थापित करता रहा है।

सौन्दर्य अपने समर्थन के लिए जिस सामञ्जस्य की ओर इगित करता है विरूपता भी अपने विरोध के लिए उसीकी ओर सकेत करती है पर दोनो के सकेत मे अन्तर है। प्रत्येक सौन्दर्य-खण्ड अखण्ड सौन्दर्य से जुडा है और इस तरह हमारे हृदयगत सौन्दर्य-वोध से भी जुडा है, पर विरूप, व्यापक सामञ्जस्य का विरोधी होने के कारण हमारे भीतर कोई स्वभावगत स्थिति नही रखता। सौन्दर्य से हमारा वह परिचय है जो अनन्त जलराशि मे एक लहर का दूसरी लहर से होता है पर विरूपता से हमारा वैसा ही मिलन है जैसा पानी मे फेंके हुए पत्थर और उससे उठी लहर मे सहज है। सौन्दर्य चिरपरिचय मे भी नवीन है पर विरूपता अति परिचय मे नितान्त साधारण वन जाती है; इसीसे सौन्दर्य की रहस्यानुभूति ही, अन्तहीन काव्यकथा मे नये परिच्छेद जोडती रही है।

हमारे मूर्त और अमूर्त जगत एक दूसरे से इस प्रकार मिले हुए है कि एक का यथार्थदर्शी दूसरे का रहस्यद्रष्टा वन कर ही पूर्णता पाता है।

इस अखण्ड और व्यापक चेतन के प्रति कवि का आत्मसमर्पण सम्भव है या नही इसका जो उत्तर अनेक युगो से रहस्यात्मक कृतियाँ देती आ रही है वही पर्याप्त होना चाहिए। अलौकिक रहस्यानुभूति भी अभिव्यक्ति मे लौकिक ही रहेगी। विश्व के चित्रफलक पर सौन्दर्य्य के रग और रूपो के रेखाजाल से वना चित्र यदि अपनी रसात्मकता द्वारा हमारे लिए मूर्त का दर्शन और अमूर्त का भावन सहज कर देता है तो तर्क व्यर्थ होगा। यह तो ऐसा है जैसे किसीके अक्षयघट से प्यास बुझा बुझा कर विवाद करना कि उसने कूप क्यो खोदा जब धरती के ऊपर भी पानी था, क्योकि उसने धरती के ही अन्तर की अविभक्त सजलता का पता दिया है। पर यह सत्य है कि इस धरातल पर प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष का सम्बन्ध वनाये रखने के लिए बुद्धि और हृदय की असाधारण एकता चाहिए।

अलौकिक आत्मसमर्पण को समझने के लिए भी लौकिक का सहारा लेना होगा। स्वभाव से मनुष्य अपूर्ण भी है और अपनी अपूर्णता के प्रति सजग भी। अत किसी उच्चतम आदर्श, भव्यतम सौन्दर्य या पूर्ण व्यक्तित्व के प्रति आत्मसमर्पण द्वारा पूर्णता की इच्छा स्वाभाविक हो जाती है। आदर्शसमर्पित व्यक्तियो मे ससार के असाधारण कर्मनिष्ठ मिलेगे, सौन्दर्य से तादात्म्य के इच्छको मे श्रेष्ठ कलाकारो की स्थिति है और व्यक्तित्व-समर्पण ने हमे साधक और भक्त दिये है।

अखण्ड चेतन से तादात्म्य का रूप केवल बौद्धिक भी हो सकता है, पर रहस्यानुभूति मे बुद्धि का ज्ञेय ही हृदय का प्रेय हो जाता है। इस प्रकार रहस्यवादी का आत्मसमर्पण बुद्धि की सूक्ष्म व्यापकता से सौन्दर्य की प्रत्यक्ष विविधता तक फैल जाने की क्षमता रखता है, अत उसमे सत् और चित् की एकता मे आनन्द सहज सम्भव रहेगा।

रहस्योपासक का आत्मसमर्पण हृदय की ऐसी आवश्यकता है जिसमे हृदय की सीमा, एक असीमता मे अपनी ही अभिव्यक्ति चाहती है। और हृदय के अनेक रागात्मक सम्वन्धो मे माधुर्यभावमूलक प्रेम ही उस सामञ्जस्य तक पहुँच सकता है, जो सब रेखाओ में

रग भर सके, सब रूपो मे सजीवता भर सके और आत्मनिवेदक की इष्ट के साथ समता के धरातल पर खडा कर सके। भक्त और उसके इष्ट के बीच में वरदान की स्थिति सम्भव है जो इष्ट नही इष्ट का अनुग्रहदान कहा जा सकता है। माधुर्यभाव-मूलक प्रेम मे आधार और आधेय का तादात्म्य अपेक्षित है और यह तादात्म्य उपासक ही सहज कर सकता है, उपास्य नही। इसीसे तन्मय रहस्योपासक के लिए आदान सम्भव नही पर प्रदान या आत्मदान उसका स्वभावगत धर्म है।

अनन्त रूपो की समष्टि के पीछे छिपे चेतन का तो कोई रूप नही। अत उसके निकट ऐसा माधुर्यभावमूलक आत्मनिवेदन कुछ उलझन उत्पन्न करता रहा है।

यदि हम ध्यान से देखे तो स्थूल जगत मे भी ऐसा आत्मसमर्पण मनुष्य के अन्तर्जगत पर ही निर्भर मिलेगा। एक व्यक्ति जिसके निकट अपने आपको पूर्ण रूप से निवेदित करके सन्तोष का अनुभव करता है वह सौन्दर्य, गुण, शक्ति आदि की दृष्टि से सबको विशिष्ट जान पडे ऐसा कोई नियम नही। प्राय एक के अटूट स्नेह, भक्ति आदि का आधार दूसरे के सामने इतने अपूर्ण और साधारण रूप मे उपस्थित हो सकता है कि वह उसे किसी भाव का आलम्बन ही न स्वीकार करे। कारण स्पष्ट है। मनुष्य अपने अन्तर्जगत मे जो कुछ भव्य छिपाये हुए है वह जिसमे प्रतिबिम्बित जान पडता है उसके निकट आत्मनिवेदन स्वाभाविक ही रहेगा। परन्तु यह आत्म-निवेदन लालसाजन्य आत्मसमर्पण से भिन्न है, क्योकि लालसा अन्तर्जगत के सौन्दर्य की साकारता नही देखती, किसी स्थूल अभाव की पूर्ति पर केन्द्रित रहती है।

व्यावहारिक धरातल पर भी जिन व्यक्तियो का आत्मनिवेदन एकरस और जीवनव्यापी रह सका है उनके अन्तर्जगत और बाह्याधार मे ऐसा ही बिम्ब प्रतिबिम्ब भाव मिलता है और यह भाव अन्तर्जगत के विकास के साथ तब तक विकसित होता रहता है जब तक बाह्याधार मे अन्तर्जगत के विरोधी तत्व न मिलने लगे।

अवश्य ही सूक्ष्म जगत के आत्मनिवेदन को स्थूल जगत के आत्मसमर्पण के साम्य से समझना कठिन होगा। पर यह मान लेने पर कि मनुष्य का आत्मनिवेदन उसीके अन्तर्जगत की प्रतिकृति खोजता है, सूक्ष्म का प्रश्न बहुत दुर्बोध नही रहता। रहस्यद्रष्टा जब खण्ड रूपो से चलकर अखण्ड और अरूप चेतन तक पहुँचता है तब उसके लिए अपने अन्तर्जगत के वैभव की अनुभूति भी सहज हो जाती है और बाह्यजगत की सीमा की भी। अपनी व्यक्त अपूर्णता को अव्यक्त पूर्णता मे मिटा देने की इच्छा उसे पूर्ण आत्मदान की प्रेरणा देती है। यदि इस तादात्म्य के साथ माधुर्यभाव न होता तो यह ज्ञाता और ज्ञेय की एकता बन जाता, भावभूमि पर आधार आधेय की एकता नही।

प्रकृति के अस्त व्यस्त सौन्दर्य मे रूपप्रतिष्ठा, बिखरे रूपो मे गुणप्रतिष्ठा, फिर इनकी समष्टि मे एक व्यापक चेतन की प्रतिष्ठा और अन्त में रहस्यानुभूति का जैसा क्रमबद्ध इतिहास हमारा प्राचीनतम काव्य देता है वैसा अन्यत्र मिलना कठिन होगा।

जीवन के स्थूल धरातल पर कर्मनिष्ठ ऋषि जब 'अग्निना रयिमश्नवत्पोषमेव दिवे दिवे यशस वीरवत्तमम्' (प्रतिदिन मनुष्य अग्नि के द्वारा पुष्टिदायक, कीर्तिजनक वीर पुरुषो से युक्त समृद्धि प्राप्त करता है) कहता है तब हमें आश्चर्य नही होता। पर जब यही बोध आकाश के अस्त-व्यस्त रगो में नारी का रूप-दर्शन बन कर उपस्थित होता है तब हम उसकी सौन्दर्यदृष्टि पर विस्मित हुए बिना नही रहते।

उषो देव्यमर्त्या विभाहि चन्द्ररथा सूनृता ईरयन्ती
आ त्वा वहन्तु सुयमासो अश्वा हिरण्यवर्णा पृथुपाजसो ये।

(हे कमनीय कान्तिवाली! अपने चन्द्ररथ पर, सत्य को प्रसारित करती हुई आभासित हो। उत्तम नियन्त्रित हिरण्यवर्ण किरणाश्व तुझे दूर दूर तक पहुँचावे।)

बादलो को लानेवाले मरुतगण की उपयोगिता जान लेनेवाला ऋषि जब उन्हें वीर-रूप मे उपस्थित करता है तब हम उसके प्रकृति मे चेतना के आरोप से प्रभावित हुए बिना नही रहते।

असेषु ऋष्टय पत्सु खादयो वक्ष सु रुक्मा मरुतो रथे शुभ।
अग्निभ्राजसो विद्युतो गभस्त्यो शिप्रा शीर्षसु वितता हिरण्यमयी।

(स्कन्ध पर भाले, पैरो मे पदत्राण वक्ष पर सुवर्णालकार युक्त और रथशोभी मरुतो के हाथो मे अग्नि के समान कान्तिमत विद्युत् है और ये सुवर्ण-खचित शिरस्त्राण धारण किये है।)

रथीव कशयाश्वा अभिक्षिपन्नाविर्दूतान् कृणुते वर्ष्या अह।

(विद्युत के कशाघात से बादल रूपी अश्वो को चलाते हुए रथी वीर के समान वर्षा के देव उपस्थित हो गए है।)

इस प्रकार रूपो की प्रतिष्ठा और व्यापारो की योजना के उपरान्त वे मनीषी अखण्ड रूप और व्यापक जीवन-धर्म तक जा पहुँचते है।

इसके उपरान्त हमे उनकी रहस्यानुभूति और उससे उत्पन्न जिस आत्मनिवेदन का परिचय मिलता है उसमे न रूपो की समष्टि है न व्यापारो की योजना, प्रत्युत् वह अनुभूति किसी अव्यक्त चेतन से वैयक्तिक तादात्म्य की इच्छा से सम्बन्ध रखती है।

आ यद्रुहाव वरुणश्च नाव प्र यत्समुद्रमीरयाव मध्यम्।
अधि यदपा स्नुभिश्चराव प्र प्रेङ्ख ईङ्खयावहै शुभेकम्।

(मै और मेरे वरणीय देव दोनो जब नाव पर चढ कर उसे समुद्र के बीच मे ले गए तब जल के ऊपर सुख शोभाप्राप्त करते हुए झूले मे (तरंगित लहरो मे) झूले।)

क्व त्यानि नौ सख्या बभूव सचावहे यदवृक पुराचित्।

(हे वरणीय स्वामी! हम दोनो का वह पूर्व का अविच्छिन्न सख्यभाव कहाँ गया जिसे मै व्यर्थ खोजता हूँ।)

उत स्वया तन्वा संवदे तत्कदा न्वन्तवरुण भुवानि।

(कब मै अपने इस शरीर से उसकी स्तुति करूँगा उसके साथ साक्षात् सवाद करूँगा और कब मै उस वरण योग्य के हृदय के भीतर एक हो सकूँगा)

ऋग्वेद के इन रहस्यात्मक अंकुरो ने दर्शन और काव्य मे जैसी विविधता पाई है उसे बताने की न यहा आवश्यकता है और न स्थान।

[३]

आधुनिक युग मे कलाकार की सीमाये जानने के लिए जीवन-व्यापी वातावरण की विषमताओ से परिचित होना, अपेक्षित रहेगा।

हमारी सामाजिक परिस्थिति मे अभी तक प्रतिक्रियात्मक ध्वस-युग ही चल रहा है। उसके सम्बन्ध मे ऐसा कोई स्वस्थ और पूर्ण चित्र अकित नही किया जा सका जिसे दृष्टि का केन्द्र बना कर निर्माण का क्रम आरम्भ किया जा सकता। इस दिशा मे हम अपने व्यक्तिगत स्वार्थ और सुविधा के अनुसार ही तोडने फोडने का कार्य करते चलते है, अत. कही चट्टान पर सुनार की हथौडी का हल्का स्पर्श होता है और कही राख के ढेर पर लोहार के हथौडे की गहरी चोट। क्या सस्कृति, क्या आदर्श, सब मे हमारी शक्तियो का विक्षिप्त जैसा प्रयोग है, इसीसे जो टूट जाता है वह हमारी ही आँखो की किरकिरी बनने के लिए वायु-मण्डल मे मँडराने लगता है और जो हमारे प्रहार से नही बिखरता, वह विषम तथा विरूप बन कर हमारे ही पैरो को आहत और गति को कुण्ठित करता रहता है। निर्माण की दिशा में किसी सामूहिक लक्ष्य के अभाव मे व्यक्तिगत प्रयास, अराजकता के आकस्मिक उदाहरणो से अधिक महत्व नही पाते।

किसी भी उत्थानशील समाज और उसके प्रबुद्ध कलाकारो में जो सक्रिय सहयोग और परस्पर पूरक आदान-प्रदान स्वाभाविक है वह हमारे समाज के लिए कल्पनातीत बन गया। समाज की एक विन्दु पर अचलता और कलाकार की लक्ष्यहीन गति-विह्वलता ने उसे एक प्रकार से असमाजिक प्राणी की स्थिति मे डाल दिया है।

प्रत्येक सच्चे कलाकार की अनुभूति, प्रत्यक्ष सत्य ही नही अप्रत्यक्ष सत्य का भी स्पर्श करती है, उसका स्वप्न, वर्तमान ही नही अनागत को भी रूपरेखा मे बाँधता है और उसकी भावना यथार्थ ही नही सम्भाव्य यथार्थ को भी मूर्त्तिमत्ता देती है। परन्तु इन सबकी, व्यष्टिगत और अनेकरूप अभिव्यक्तियाँ दूसरो तक पहुँच कर ही तो जीवन की समष्टिगत एकता का परिचय देने मे समर्थ है।

कलाकार के निर्माण मे जीवन के निर्माण का लक्ष्य छिपा रहता है, जिसकी स्वीकृति के लिए जीवन की विविधता आवश्यक रहेगी। जब समाज उसके किसी भी स्वप्न का मूल्य नही आंकता, किसी भी आदर्श को जीवन की कसौटी पर परखना स्वीकार नही करता, तब साधारण कलाकार तो सब कुछ धूल मे फेक कर रूठे बालक के समान क्षोभ प्रकट कर देता है और महान, समाज की उपस्थिति ही भुलाने लगता है। हमारी कला के क्षेत्र में जो एक उच्छृङ्खल गति है उसके मूल मे निर्माण की सन्तुलित सक्रियता से अधिक, विवश क्षोभ की अस्थिरता ही मिलेगी।

एक ओर समाज पक्षाघात से पीडित है और दूसरी ओर धर्म विक्षिप्त। एक चल ही नही सकता दूसरा वृत्त के भीतर वृत्त बनाता हुआ एक पैर से दौड लगा रहा है। गर्म और ठढे जल से भरे पात्रो की निकटता जैसे उनका तापमान एक सा कर देती है उसी प्रकार हमारे धर्म और समाज की सापेक्ष स्थिति उन्हें एक सी निर्जीवता देती रहती है। आज तो बाह्य और आन्तरिक विकृति ने धर्म को ऐसी परिस्थिति मे पहुँचा दिया है जहाँ रूढिग्रस्त रहने का नाम निष्ठा और रीतिकालीन प्रवृत्तियो की चञ्चल क्रीडा ही गतिशीलता है। इतना ही नही, इस स्वर्ग के खँडहर का द्वारपाल अर्थ बन गया है। कलाकार यदि धर्म के क्षेत्र मे प्रवेश चाहे तो उसे हाथी पर गगायमुनी काम की अम्बारी मे जाना होगा जो उसकी निर्धनता मे सम्भव नही।

हमारी सस्कृति ने धर्म और कला का ऐसा ग्रन्थिबन्धन किया था जो जीवन से अधिक मृत्यु मे दृढ होता गया। क्या काव्य, क्या

मूर्त्ति, क्या चित्र सबकी यथार्थ-रेखाओं और स्थूल रूपों में अध्यात्म ने सूक्ष्म आदर्श की प्रतिष्ठा की। परन्तु जब ध्वंस के असंख्य स्तरों के नीचे दबकर वह अध्यात्म-स्पन्दन रुक गया तब धर्म के निर्जीव कंकाल में हमें मृत्यु का ठंढा स्पर्श मिलने लगा।

शरीर को चलानेवाली चेतना का अशरीरी गमन तो प्रत्यक्ष नहीं होता परन्तु उसके अभाव में अचल शरीर का गल गल कर नष्ट होना प्रत्यक्ष भी रहेगा और वातावरण को दूषित भी करेगा। समन्वयात्मक अध्यात्म कब खो गया यह तो हम न जान सके परन्तु व्यावहारिक धर्म की विविध विकृतियाँ हमारे जीवन के साथ रहीं। ऐसी स्थिति में काव्य तथा कलाओं की स्वस्थ गतिशीलता असम्भव हो उठी। निर्माणयुग में जो कलासृष्टि अमृत की सञ्जीवनी देकर ही सफल हो सकती थी वही, पतनयुग में मदिरा की उत्तेजनामात्र बनकर विकासशील मानी गई। मदिरा का उपयोग तो स्वयं को भुलाने के लिए है, स्मरण करने के लिए नहीं और जीवन का सृजनात्मक विकास अपनेपन की चेतना में ही सम्भव है। परिणामतः कलायें और काव्य जैसे जैसे हम में विक्षिप्त की चेष्टायें भरने लगे वैसे वैसे हम विकासपथ पर लक्ष्यभ्रष्ट होते गए।

जागरण के प्रथम चरण में हमारी राष्ट्रीयता ने अपनी व्यापकता के लिए जिस अध्यात्म का आह्वान किया, काव्य ने सौन्दर्य्य-काया में उसीकी प्राणप्रतिष्ठा कर दी। कवि ने धर्म के धरातल पर किसी विकृत रूढ़ि को स्वीकार नहीं किया परन्तु सक्रिय विरोध के साधनों का अभाव सा रहा।

कुछ ने सम्प्रदायों की संकीर्णता से बाहर रह कर, आदर्श-चरित्रों को नवीन रूपरेखा में ढाला और इस प्रकार पुरानी सांस्कृतिक परम्परा और नई लोक-भावना का समन्वय उपस्थित किया। कुछ ने धर्म के मूलगत अध्यात्म को, व्यक्तिगत साधना के उस धरातल पर स्थापित कर दिया जहाँ वह हमारे अनेकरूप जीवन की, अरूप एकता का आधार भी बन सका और सौन्दर्य की विविधता की व्यापक पीठिका भी।

कुछ ने उसे स्वीकार ही नहीं किया, परन्तु उसके स्थान में किसी अन्य व्यापक आदर्श की प्रतिष्ठा न होने के कारण यह अस्वीकृति एक उच्छृङ्खल विरोध-प्रदर्शन मात्र रह गई। नास्तिकता उसी दशा में सृजनात्मक विकास दे सकती है जब ईश्वरता से अधिक सजीव और सामञ्जस्यपूर्ण आदर्श जीवन के साथ चलता रहे। जहाँ केवल अविश्वास ही उसका सम्बल है वहाँ वह जीवन के प्रति भी अनास्था उत्पन्न किये बिना नहीं रहती। और जीवन के प्रति अविश्वासी व्यक्ति का, सृजन के प्रति भी अनास्थावान हो जाना अनिवार्य है। ऐसी स्थिति का अन्तिम और अवश्यम्भावी परिणाम, जीवन के प्रति व्यर्थता की भावना और निराशा ही होती है। इसीसे सच्चा कवि या कलाकार किसी न किसी आदर्श के प्रति आस्थावान रहेगा ही।

आज तो कवि धर्म के अक्षयवट और राजदरबार के कल्प-वृक्ष की छाया बहुत पीछे छोड़ आया है। परिवर्तनों के कोलाहल में काव्य जब से मुकुट और तिलक से उतर कर मध्य वर्ग के हृदय का अतिथि हुआ तब से आज तक वहीं है। और सत्य कहें तो कहना होगा कि उस हृदय की साधारणता ने कवि के नेत्रों से वैभव की चकाचौंध दूर कर दी और विषाद ने कवि को धर्मगत संकीर्णताओं के प्रति असहिष्णु बना दिया। छायावाद का कवि धर्म के अध्यात्म से अधिक दर्शन के ब्रह्म का ऋणी है जो मूर्त्त और अमूर्त्त विश्व को मिला कर पूर्णता पाता है। बुद्धि के सूक्ष्म धरातल पर कवि ने जीवन की अखण्डता का भावन किया, हृदय की भावभूमि पर उसने प्रकृति में बिखरी सौन्दर्यसत्ता की रहस्यमयी अनुभूति की और दोनों को मिलाकर एक ऐसी काव्य-सृष्टि उपस्थित कर दी जो प्रकृतिवाद, हृदयवाद, अध्यात्मवाद, रहस्यवाद आदि अनेक नामों का भार सँभाल सकी।

धर्म ने यदि अपने आपको कूप के समान पत्थरों से बाँध लिया है तो राजनीति ने धरती के ढाल पर पड़े पानी के समान अनेक धाराओं में विभक्त होकर शक्ति को बिखरा डाला है।

पिछले पच्चीस वर्षों में विश्व के राजनीतिक जीवन में जो जो आदर्श उपस्थित किये गए उनमें से एक को भी अभी तक पूर्ण-विकास का अवसर नहीं मिल सका। पुराना पर स्वार्थी साम्राज्यवाद, नवीन पर क्रूर नात्सीज्म और फासिज्म, अध्यात्म-प्रधान गांधीवाद, जनसत्तात्मक साम्यवाद, समाजवाद आदि सब रेल के तीसरे दर्जे के छोटे डिब्बे में ठसाठस भरे उन यात्रियों जैसे हो रहे हैं, जो एक दूसरे के सिर पर सवार होकर ही खड़े रहने का अवकाश और विवाद में ही मनोरञ्जन के साधन पा सकते हैं। इनमें से मानव-कल्याण पर केन्द्रित विचार-धाराओं को भी शताब्दियाँ तो दूर रहीं अभी विकास के लिए पचास वर्ष भी नहीं मिल सके। एक की सीमायें स्पष्ट हुए बिना ही दूसरी अपने लिए स्थान बनाने लगती है और इस प्रकार विश्व का राजनीतिक जीवन परस्परविरोधिनी शक्तियों का मेला मात्र रह गया है।

हमारा राजनीतिक वातावरण भी कुछ कम विषम और छिन्न भिन्न नहीं। वास्तव में हमारी राष्ट्रीयता जनता की पुत्री होने के साथ साथ धर्म और पूँजी की पोष्यपुत्री भी तो है, अतः दोनों ओर के गुण अवगुण उसे उत्तराधिकार में मिलते रहे हैं। उसकी छाया में धार्मिक विरोध भी पनप सके और आर्थिक वैषम्य से उत्पन्न बौद्धिक मतभेद भी विकास पाते रहे।

इसके अतिरिक्त हमारी राष्ट्रीयता की गतिशीलता के लिए आध्यात्मिक धरातल पर भी एक सैनिक-सगठन अपेक्षित था और सैनिक-सगठन की कुछ अपनी सीमाये रहेगी ही। सेना मे सब वीर और जय के विश्वासी ही रहे ऐसी सम्भावना सत्य नही हो सकती। पर जो व्यक्ति, स्वार्थ या परार्थ के लिए, विवशता या अन्तर की प्रेरणा से, यथार्थ की असुविधा या आदर्श की चेतना के कारण, सेना की परिधि मे आगए उन सभी को बाह्य-वेशभूषा और गति की दृष्टि से एक सा रहना पडेगा। इस प्रकार सैनिक-सगठन मे बाह्य एकता का जो महत्व है वह आन्तरिक विशेषता का नही, और यह त्रुटि हमारी राष्ट्रीयता मे भी अनजाने ही, अपना स्थान बनाने लगी।

यह कुछ सयोग की ही बात नही कि इस युग मे कोई महान कलाकार राजनीति की कठिन रेखा के भीतर स्वच्छन्दता की साँस न ले सका। जहाँ तक हमारी कविता और कलाओ का प्रश्न है वे अनाथालय के जीवो के समान सब द्वारो पर अपना अनाथपन गाने को स्वतन्त्र रही, परन्तु हर द्वार पर उनके गीत के लिए स्वर ताल निर्दिष्ट और विषय निश्चित थे। जो नीति ने सुनना चाहा वह समाज को नही भाया और जो समाज को रुचिकर हुआ वह राष्ट्रीयता की स्वीकृति न पा सका।

ऐसी स्थिति मे कलाकार यदि नवीन प्रेरणाओ को, जीवन की व्यापक पीठिका पर प्रतिष्ठित कर सकता तो उसका लक्ष्य स्पष्ट और पथ परिष्कृत हो जाता, परन्तु हमारे समाज की छिन्न-भिन्नता ने यह कार्य सहज नही रहने दिया। इस विषम मानव-समष्टि मे, सौ मे चौरानवे मनुष्य तो जड और निर्धन श्रमजीवी है जिनकी स्थिति का एकमात्र उपयोग शेष छै के लिए सुविधाये जुटाना है। और शेष छै मे, अकर्मण्य धनजीवी, उच्च बुद्धिजीवी, निम्न बुद्धिजीवी श्रमिक आदि इस प्रकार एकत्र है कि एक की विकृति से दूसरा गलता-छीजता रहता है।

केवल धनजीवियो मे, किसी जाति की स्वस्थ विशेषताओ और व्यापक गुणो को खोजना व्यर्थ का प्रयास है। उनकी स्थिति तो उस रोग के समान है जो जितना अधिक स्थान घेरता है उतना ही अधिक स्वास्थ्य का अभाव प्रकट करता है और जैसे जैसे तीव्र होता है वैसे वैसे जीवन के सकट का विज्ञापन बनता जाता है। नितान्त निर्धन बुद्धिजीवी वर्ग जैसे एक ओर उच्च बनने की आकाक्षा और दूसरी ओर अभाव की शिलाओ से दब कर टूट जाताहै उसी प्रकार सर्वथा समृद्ध भी, उच्चताजनित गर्व और सुविधाओ के दृढ साँचे मे पथराता रहता है।

जिस बुद्धिजीवी वर्ग को इस विराट पर निश्चेष्ट जाति का मस्तिष्क बनने का अधिकार है उसने धनजीवी की सुखलिप्सा और अपने समाज की सकीर्णता के साथ ही नव जागरण को स्वीकृति दी है। अत एक शरीर मे दो प्रेतात्माओ के समान, उसके जीवन मे दो भिन्न प्रवृत्तियाँ उछलकूद मचाती रहती है। विषमताओ से उत्पन्न और सकीर्णता से पोषित स्वभाव को इस युग की विशेषताओ ने ऐसा रूप दे दिया है जिसमे पुराना स्वार्थ घनीभूत है और नवीन ज्ञान पुञ्जीभूत।

विज्ञान के चरमविकास ने हमारी आधुनिकता को एकागी बुद्धिवाद मे इस तरह सीमित किया कि आज जीवन के किसी भी आदर्श को उसके निरपेक्ष सत्य के लिए स्वीकार करना कठिन है। परिणामत एक निस्सार बौद्धिक उलझन भी हमारे हृदय की सम्पर्ण सरल भावनाओ से अधिक सारवती जान पडे तो आश्चर्य ही क्या है! इस ज्ञान-व्यवसायी युग मे बिना स्थायी पूँजी के ही सिद्धान्तो का व्यापार सहज हो गया है, अत न अब हमे किसी विश्वास का खरापन जाँचने के लिए अपने जीवन को कसौटी बनाना पडता है और न किसी आदर्श का मूल्य आँकने के लिए जीवन की विविधता समझने की आवश्यकता होती है। हमारा बिखरा जीवन इतना व्यक्तिप्रधान है कि प्राय वैयक्तिक भ्रान्तियाँ भी समष्टिगत सत्य का स्थान ले लेती है और स्वार्थ-साधन के प्रयास ही व्यापक गतिशीलता के पर्याय बन जाते है।

जहाँ तक जीवन का प्रश्न है, उसे सजीवता के वैभव मे देखने का न बुद्धिवादी को अवकाश है और न इच्छा। वह तो उसे दर्पण की छाया के समान स्पर्श से दूर रख कर देखने का अभ्यास करते करते स्वय इतना निर्लिप्त हो गया है कि उसे ज्ञान का रजिस्टर मात्र कहना चाहिए। जीवन के व्यापक स्पन्दन से वह जितना दूर हटता जाता है उतना ही विकास के मूलतत्वो से अपरिचित बनता जाता है। और अन्त मे उसका भारी पर अज्ञानात्मक ज्ञान उसीके जीवन की उष्णता को ऐसे दबा देता है जैसे छोटी सी चिनगारी को राख का ढेर। आज की आवश्यकताओ के अनुसार वह ससार भर के सम्बन्ध मे बहुत कुछ ज्ञातव्य जानता है। परन्तु अपनी धरती की अनुभूति के बिना यह ज्ञान-बीज घुनते रहने के लिए ही उसके मस्तिष्क की सारी सीमा घेरे रहते है।

हमारे बुद्धिजीवी वर्ग मे अधिकाश तो मानसिक हीनता की भावना मे ही पलते और बढते है। उनका बाह्य जीवन ही, समुद्र पार के कतरे ब्योते आच्छादनो से अपनी नग्नता नही छिपाये है, अन्तर्जगत को भी वही से लोहार की धौकनी जैसा स्पन्दन मिल रहा है। उनका पगु से पगु स्वप्न भी विदेशीय पख लगा लेने पर स्वर्ग का सन्देशवाहक मान लिया जाता है। उनका विरूप से विरूप आदर्श भी पश्चिमीय साँचे मे ढल कर सुन्दरतम के अतिरिक्त और कोई सज्ञा नही पाता। उनका मूल्यहीन से मूल्यहीन सिद्धान्त भी दूसरी सस्कृति की छाया का स्पर्श करते ही पारसो का शिरोमणि कहलाने लगता है। उनका दरिद्र से दरिद्र विचार भी देशी परिधान मे विदेशी पेबन्द लगाकर समस्त विचार-जगत का एकछत्र सम्राट स्वीकार कर लिया जाता है।

ऐसे अव्यवस्थित बुद्धिजीवियो मे संस्कृति की रेखाये टूटी हुई और जीवन का चित्र अधूरा ही मिलेगा।

केवल श्रम ही जिसे स्पन्दन देता है उस विशाल मानवसमूह की कथा कुछ दूसरी ही है। बुद्धिजीवियो से उसका सम्पर्क छूटे हुए कितना समय वीता होगा, इसका अनुमान, विन्दु विन्दु से समुद्र वने हुए उसके अज्ञान और तिल तिल करके पहाड वने हुए उसके अभावो से लगाया जा सकता है। आज उसकी जडता की खाई इतनी गहरी और चौडी हो गई है कि बुद्धिजीवी उस ओर झाँकने के विचार मात्र से सभीत हो जाता है, पार करना तो दूर की वात है।

साधारणत शारीरिक श्रम और बुद्धि-व्यवसाय एक दूसरे की गति के अवरोधक है, इसीसे प्राय विचारो की उलझन से छुटकारा पाने का इच्छुक एक न एक श्रम का कार्य आरम्भ कर देता है। इसके अतिरिक्त और भी एक स्पष्ट अन्तर है। बुद्धि जीवन को सूक्ष्मता से स्पर्श करती है, परन्तु उसकी सम्पूर्णता पर एक व्यापक अधिकार वनाये रखना नही भूलती। इसके विपरीत, श्रम पूरा भार डाल कर ही जीवन को अपना परिचय देता है, परन्तु उसकी सम्पूर्णता को सव ओर से नही घेरता। प्राय बुद्धिव्यवसाय जितनी शीघ्रता से जीवनीशक्ति का क्षय कर सकता है, उतनी शीघ्रता की क्षमता श्रम मे नही। इसीसे जीवन के व्यावहारिक धरातल पर, बुद्धिव्यवसायी का कुछ शिथिल और अस्तव्यस्त मिलना जितना सम्भव है श्रमिक का दृढ और व्यवस्थित रहना उतना ही निश्चित। नैतिकता की दृष्टि से भी श्रम मनुष्य को नीचे गिरने की इतनी सुविधा नही देता जितनी बुद्धि दे सकती है, क्योकि श्रमिक के श्रम के साथ उसकी आत्मा का विक जाना सम्भाव्य ही है, परन्तु बुद्धिविक्रेता की तुला पर उसकी आत्मा का चढ जाना अनिवार्य रहता है।

श्रम की स्फूर्तिदायक पवित्रता के कारण ही सव देशो मे सव युगो के सन्देशवाहक और साधक उसे महत्व दे सके है। अनेक तो जीवन के आदि से अन्त तक उसी को आजीविका का साधन वनाये रहे। इस प्रकार जहाँ कही जीवन की स्वच्छ और स्वाभाविक गति है वहाँ श्रम की किसी न किसी रूप में स्थिति आवश्यक रहती है।

केवल श्रम ही श्रम के भार और विश्राम देने वाले साधनो के नितान्त अभाव ने हमारे श्रमजीवी जीवन का समस्त सौन्दर्य नष्ट कर दिया है। यह स्वाभाविक भी था। जिस मिट्टी से घर वना कर हम आँधी, पानी, धूप, अन्धड आदि मे अपनी रक्षा करते है वही जव अपनी निश्चित स्थिति छोड कर हमारे ऊपर ढह पडती है तव वज्रपात से कम सहारक नही होती। इस मानव-समष्टि में ज्ञान के अभाव ने रूढियो को अतल गहराई देदी है यह मिथ्या नही और अर्थवैषम्य ने इसकी दयनीयता को असीम वना डाला है यह सत्य है, परन्तु सव कुछ कह सुन चुकने पर इतना तो स्वीकार करना ही होगा कि श्रम का यह उपासक, केवल बुद्धिव्यापारी से अधिक स्वाभाविक मनुष्य भी है और जातीय गुणो का उससे अधिक विश्वसनीय रक्षक भी। इतना ही नही, युगो से सूक्ष्म परिष्कार और सीमित विस्तार पानेवाली, नृत्य, गीत, चित्र आदि कलाओ के मूलरूप भी वह सँजोये है और उपयोगी शिल्पो की विविध व्यावहारिकता भी वह सँभाले है। जीवन के सघर्ष मे ठहरने की वह जितनी क्षमता रखता है उतनी किसी बुद्धिवादी में सम्भव नही। वास्तव में उसके पारस-प्रासाद के लिए बुद्धिजीवी ही विभीषण वन गया अन्यथा उसके जीवन मे, विकृतियो की इतनी विखरी सेना का प्रवेश, सहज न हो पाता।

हमारे कवि, कलाकार आदि बुद्धिजीवियो के विभिन्न स्तरो में उत्पन्न हुए और वही पले है। अत अपने वर्ग के सस्कारो का अग्रभागी और गुण अवगुणो का उत्तराधिकारी होना, उनके लिए स्वाभाविक ही रहेगा। उनके मस्तिष्क ने अपने वातावरण की विपमता का ज्ञान, वहुत विस्तार से सचित किया और उनके हृदय ने व्यक्तिगत सीमा में सुखदु खो को वहुत तीव्रता से अनुभव किया। विभिन्न सस्कारो की धूप-छाया, विविधताभरी भावभूमि और चिन्तन की अनेक दिशाओ ने मिलकर उनके जीवन को एक सीमित स्थिति दे दी थी। परन्तु उस एक स्थिति को सम्पूर्ण वातावरण मे सार्थकता देने के लिए समष्टि का वही स्पर्श अपेक्षित था जो फूल को समीर से मिलता है—सजीव, निश्चित पर व्यापक। जिस समाज मे उनकी स्वाभाविक स्थिति थी वह विपमताओ में विखर चुका था, उससे ऊँचे वर्ग के अहकार और कृत्रिमता ने उससे परिचय असम्भव कर दिया था और निम्न मे उतरने पर उन्हे आभिजात्य के खो जाने का भय था। फलत- उन्होने अपने एकाकीपन के शून्य को अपनी ही प्यास की आग और निराशा के पाले से इस तरह भर लिया कि उनका हर स्वप्न मुकुलित होते ही झुलस गया और प्रत्येक आदर्श अकुरित होते ही ठिठुर चला।

वीज केवल अकेले रहने के लिए, अन्य वीजो की समष्टि नही छोडता। वह तो नूतन समष्टि सम्भव करने के लिए ही ऐसी पृथक स्थिति स्वीकार करता है। यदि वही वीज पुरानी धरती और सनातन आकाश की अवज्ञा करके, अपनी असाधारणता वनाये रखने के लिए वायु पर उडता ही रहे तो ससार के निकट अपना साधारण परिचय भी खो वैठेगा।

कवि, कलाकार, साहित्यकार सव, समष्टिगत विशेषताओ को नव नव रूपो में साकार करने के लिए ही उससे कुछ पृथक खड़े जान पडते है, परन्तु यदि वे अपनी असाधारण स्थिति को जीवन की व्यापकता मे साधारण न वना सके तो आश्चर्य की वस्तु मात्र रह जायेंगे। महान से महान कलाकार भी हमारे भीतर कौतुक का भाव न जगा कर, एक परिचयभरा अपनापन ही जगायेगा, क्योकि वह धूमकेतु सा आकस्मिक और विचित्र नही, किन्तु ध्रुव सा निश्चित और परिचित रह कर ही हमे मार्ग दिखाने मे समर्थ है।

आज कलाकार समष्टि का महत्व समझता है, परन्तु इस बोध के साथ भी उसके सम्पूर्ण जीवन की स्वीकृति नही है। बौद्धिक धरातल पर चिर उपेक्षित मानवो की प्रतिष्ठा करते समय उसे अपनी विशालता की जितनी चेतना है उतनी अपने देवताओ की नही। ऐसी स्थिति बहुत स्पृहणीय नही, क्योकि वह सिद्धान्तो को व्यापार का सहज साधन बन जाने की सुविधा दे देती है। जीवन के स्पन्दन से शून्य होकर सिद्धान्त जब धर्म, समाज नीति आदि की सकीर्ण पीठिका पर प्रतिष्ठित हो जाते है तब वे व्यवसाय-वृत्ति को जैसी स्वीकृति देते है वैसी जीवन के विकास को नही दे पाते। साहित्य, काव्य आदि के धरातल पर भी इस नियम का अपवाद नही मिलेगा।

नवीन साहित्यकार और कवि के बुद्धिवैभव और अनुभूति की दरिद्रता ने, ऐसी क्रियाशीलता को जन्म दे दिया है जो सिद्धान्तो को माँज धोकर रात-दिन चमकाती रहती है पर जीवन मे जग लग जाने देती है। वे अपने जीवन से बिना कुछ दिये ही एक पक्ष से सब कुछ ले आना चाहते है और दूसरे को, बहुत मूल्य पर देने की इच्छा रखते है। इस बनजार-वृत्ति से उन दो पक्षो को लाभ होने की सम्भावना कम रहती है। काव्य में तो जीवन का निरन्तर स्पर्श और उसकी मार्मिक अनुभूति सबसे अधिक अपेक्षित है, अत. यह प्रवृत्ति न उसे गहराई देती है न व्यापकता। यह युग यथार्थवादी है, अत जीवन के स्पन्दन के बिना उसका यथार्थ इतना शीतल हो उठता है कि अश्लील उत्तेजनाओ से उसमे कृत्रिम उष्णता भरी जाती है।

पिछले स्वप्नयुग के लिए यथार्थ-ज्ञान जितना आवश्यक था आज के यथार्थयुग के लिए जीवन का सम्पर्क उससे सहस्रगुण अधिक आवश्यक है। कठोर पाषाण से लेकर सूक्ष्म स्वप्न तक सब मे शरीर की जो स्थिति सहज है वह उसकी यथार्थता में सम्भव नही। जहाँ वह मासलता के साथ है वहाँ निर्जीव होते ही, गलने, विकृत होने का ऐसा क्रम आरम्भ हो जाता है जो तब तक नही रुकता जब तक शरीर मिट्टी नही हो जाता।

पिछली दुःखरागिनी का वायु-मण्डल और आज की दु ख-कथा का धरातल भी ध्यान देने योग्य है। बाह्य ससार की कठोर सीमाओ और अन्तर्जगत की असीमता की अनुभूति ने उस दु ख को एक अन्तर्मुखी स्थिति दे दी थी। ऐसा दु ख प्राय जीवन के आन्तरिक सामञ्जस्य की प्राप्ति का लक्ष्य लेकर चलता है। फलत उसकी सवेदनीयता मे गीत की वैसी ही मर्मस्पर्शिता रहती है जिसे कालिदास ने

> रम्याणि वीक्ष्य मधुराश्च निशम्य शब्दा—
> न्पर्युत्सुको भवति यत्सुखितोऽपि जन्तु . . .

आदि के द्वारा व्यक्त किया है और वैसी ही व्यापकता मिलती है जिसकी ओर, भवभूति ने 'एको रस करुण एव निमित्तभेदात्' कह कर सकेत किया है। ऐसी वेदना को दूसरे के निकट सवेदनीय बनाने के लिए अपने हृदय की अतल गहराई की अनुभूति आवश्यक है और उसे व्यापकता देने के लिए जीवन की एकता का भावन।

आज के दु.ख का सम्बन्ध जीवन के स्थूल धरातल की विषमता से रहता है, अत. समष्टि को आर्थिक आधार पर बाह्य सामञ्जस्य देने का आग्रह इसकी विशेषता है।

इस धरातल पर यह सहज नही कि एक की असुविधा की अनुभूति दूसरे मे वैसी ही प्रतिध्वनि उत्पन्न कर सके। जिन क्षणो में भोजन की इच्छा नही उनमे एक व्यक्ति के लिए अन्य दु.ख, चिन्ता आदि की अनुभूति जैसी सहज है वैसी भूख की व्यथा की नही। परन्तु उन्ही परिस्थितियो मे यह अनुभूति तब स्वाभाविक हो जायगी जब वह दूसरे बुभुक्षित से सच्चा तादात्म्य प्राप्त कर सके।

आँखो से दूर बाहर गानेवाले की करुणरागिनी हममे प्रतिध्वनित होकर एक अव्यक्त वेदना जगा सकती है, परन्तु प्रत्यक्ष ठिठुरते हुए नग्न भिखारी का दु.ख तब तक हमारा न हो सकेगा जब तक हमारा उससे वास्तविक तादात्म्य न हो जावे। व्यावहारिक जीवन मे भी हमारे भौतिक अभाव उन्ही को अधिक स्पर्श करते है जो हमारे निकट होते है, जो दूरत्व के कारण ऐसे तादात्म्य की शक्ति नही रखता उसके निकट हमारी पार्थिव असुविधाओ का विशेष मूल्य नही।

लक्ष्यत एक होने पर भी अन्तर्जगत के नियम को भौतिक जगत नही स्वीकार करता। उसमें हमे अपनी गहराई मे दूसरो को खोजना पडता है और इसमे दूसरो की अनेकता मे अपने आपको खो देना। दूसरे की आँखे भर लाने के लिए हमे अपने आँसुओ मे डूब जाने की आवश्यकता रहती है, परन्तु दूसरे के डबडबाए हुए नेत्रो की भाषा समझने के लिए हमे अपने सुख की स्थिति को, दूसरे के दु:ख मे डुबा देना होगा। जब एक व्यक्ति दूसरे के दु.ख में अपने दु ख को मिला कर बोलता है तब उसके कण्ठ में दो का बल होगा, जब तीसरा, उन दोनो के दु.ख मे अपना दु.ख मिला कर बोलता है तब उसके कण्ठ मे तीन का बल होगा। और इसी क्रम से जो असख्य व्यक्तियो के दु ख मे अपना दु.ख खोकर बोलता है उसके कण्ठ में असीम बल रहना अनिवार्य है।

बाह्य विषमताओ मे जिन्होने सामञ्जस्य स्थापित करने का अथक प्रयत्न किया उन क्रान्ति-साधको के जीवन भी इसी सत्य

स्तर दूर करके उसके कंकाल की नाप-जोख करना चाहता है। इस स्थिति का परिणाम समझने के लिए मानवी को, जीवन की पृष्ठभूमि पर देखना होगा।

नारी केवल मासपिण्ड की संज्ञा नही है। आदिम काल से आज तक विकास-पथ पर पुरुष का साथ देकर, उसकी यात्रा को सरल बनाकर, उसके अभिशापो को स्वय झेलकर, और अपने वरदानो से जीवन मे अक्षय शक्ति भर कर, मानवी ने जिस व्यक्तित्व, चेतना और हृदय का विकास किया है उसीका पर्याय नारी है। किसी भी जीवित जाति ने उसके विविध रूपो और शक्तियो की अवमानना नही की, परन्तु किसी भी मरणासन्न जाति ने, अपनी मृत्यु की व्यथा कम करने के लिए उसे मदिरा से अधिक महत्व नही दिया।

पिछले जागरण युग ने अपने पूर्ववर्ती युग से जो जीव पाया था उसे तो मानवी के स्थान मे, सौन्दर्य का ध्वस्त आविष्कार-विभाग कहना उचित होगा। जागृत युग के आदर्शवादी कवि ने मलिनता मे मिली पुरानी मूर्त्ति के समान उसे स्वच्छ और परिष्कृत करके ऊँचे सिंहासन पर प्रतिष्ठित तो कर दिया परन्तु वह उसे गतिशीलता देने मे असमर्थ रहा। छायायुग ने उस कठोर अचलता से शापमुक्ति देने के लिए नारी को प्रकृति के समान ही मूर्त्त और अमूर्त्त स्थिति दे डाली। उस स्थिति मे सौन्दर्य को एक रहस्यमयी सूक्ष्मता और विविधता प्राप्त हो जाना सहज हो गया, पर जीवन की यथार्थ सीमारेखाएँ धुँधली और अस्पष्ट होती गईं।

आज के यथार्थवादी को उस सौन्दर्य के स्वप्न और शक्ति के आदर्श को सजीव साकारता देनी होगी, अत उसका कार्य व्यजनो के आविष्कारक से अधिक महत्वपूर्ण और सूक्ष्मता के उपासक से अधिक कठिन है।

जहाँ तक नारी की स्थिति का प्रश्न है वह आज इतनी सज्ञाहीन और पगु नही कि पुरुष अकेले ही उसके भविष्य और गति के सम्बन्ध मे निश्चय कर ले। हमारे राष्ट्रीय जागरण मे उसका सहयोग महत्वपूर्ण और बलिदान असख्य है। समाज मे वह अपनी स्थिति के प्रति विशेष सजग और सतर्क हो चुकी है। साहित्य को कुछ ही वर्षो मे उसकी सजीवता का जैसा परिचय मिल चुका है वह भी उपेक्षणीय नही। इसके अतिरिक्त इस सक्रान्ति काल मे सभी देशो की नारी अपने कठिन त्यागो से अर्जित गृह, सन्तान तथा जीवन को अरक्षित देखकर और पुरुष की स्वभावगत पुरानी बर्बरता का नया परिचय पाकर, सम्पूर्ण शक्ति के साथ जाग उठी है। भारतीय नारी भी इसका अपवाद नही।

ऐसे ही अवसर पर यथार्थवाद ने एक ओर नारी की वैज्ञानिक शव-परीक्षा आरम्भ की है और दूसरी ओर उसे उच्छृङ्खल विलास का साधन बनाया है।

वैज्ञानिक परीक्षा के सम्बन्ध मे यह स्मरण रखना आवश्यक है कि नारी ऐसा यन्त्रमात्र नही जिसके सब कलपुर्जो का प्रदर्शन ही, ज्ञान की पूर्णता, और उनका सयोजन ही क्रिया-शीलता हो सके। पुरुष व्यक्ति मात्र है परन्तु स्त्री उस संस्था से कम नही जिसके प्रभाव की अनेक दिशाये है और सृजन मे रहस्यमयी विविधता रहती है। वास्तव मे ससार का कोई भी महत्वपूर्ण सृजन बहुत स्पष्ट और निरावरण नही होता। धरती के अप्रत्यक्ष हृदय मे अकुर की सृष्टि होती है, अन्धकार की गहनता के भीतर से दिन का आविर्भाव होता है और अन्तर की रहस्यमयी प्रेरणा से जीवन को विकास मिलता है। नारी भी स्थूल से सूक्ष्म तक न जाने कितने साधनो से, जीवन और जाति के सर्वतोन्मुखी निर्माण मे सहायक होती है।

निर्जीव शरीरविज्ञान ही उसके जीवन की सृजनात्मक शक्तियो का परिचय नही दे सकता। वास्तव मे उसके पूर्ण विकासशील सहयोग को प्राप्त करने के लिए वैज्ञानिक दृष्टि ही नही हृदय का वह सस्कार भी अपेक्षित रहेगा जिसके बिना मनुष्य का कोई सामाजिक मूल्य नही ठहरता।

और आज की परिस्थितियो मे, अनियन्त्रित वासना का प्रदर्शन स्त्री के प्रति क्रूर व्यग ही नही जीवन के प्रति विश्वास-घात भी है।

नारी-जीवन की अधिकाश विकृतियो के मूल मे पुरुष की यही प्रवृत्ति मिलती है, अत आधुनिक नारी नये नामो और नूतन आवरणो मे भी इसे पहचानने मे भूल नही करेगी। उसके स्वभाव मे, परिस्थितियो के अनुसार अपने आपको ढाल लेने का सस्कार भी शेष है और उसके जीवन मे, दिनोदिन बढता हुआ विद्रोह भी प्रवाहशील है। यदि वह पुरुष की इस प्रवृत्ति को स्वीकृति देती है तो जीवन को बहुत पीछे लौटा ले जाकर एक श्मशान मे छोड आती है और यदि उसे अस्वीकार करती है तो समाज को बहुत पीछे छोड शून्य मे आगे बढ जाती है। स्त्री के जीवन के तार तार को जिसने तोड कर उलझा डाला है, उसके अणु-अणु को जिसने निर्जीव बना दिया है और उसके सोने के ससार को जो धूल के मोल लेती रही है, पुरुष की वही लालसा, आज की नारी के लिए, विश्वस्त मार्गदर्शिका न बन सकेगी।

छायावाद की छायामयी को आघात पहुँचाने के लिए यह प्रयोग ऐसा ही है जैसा आकाश के रगो को काटने के लिए दो धार वाली तलवार चलाना जो एक ओर चलानेवाले के हाथ थकाती रहती है और दूसरी ओर समीपवर्तियो को चोट पहुँचाती है। वे रग तो मनुष्य की अपनी दृष्टि मे घुले मिले है। छाया-युग की नारी, पुरुष के सौन्दर्यबोध, स्वप्न, आदर्श आदि का प्रतीक है। आज पुरुष यदि उस प्रतीक को जीवन की पीठिका पर प्रतिष्ठित करने की क्षमता नही रखता तो क्षम्य है। परन्तु अपनी ही अर्चित्त मूर्त्ति को पैरो तले

कुचलने के लिए यदि वह जीवित नारी को अपनी कुत्सा में समाधि देना चाहे, मधु-सौरभ पर पली हुई अपनी ही सृष्टि को आत्मसात् करने की इच्छा से, नारी के अस्तित्व के लिए क्रव्याद बन जावे तो उसका अपराध अक्षम्य हो उठेगा।

भारतीय पुरुष जीवन में नारी का जितना ऋणी है उतना कृतज्ञ नही हो सका। अन्य क्षेत्रो के समान साहित्य मे भी उसकी स्वभावगत सकीर्णता का परिचय मिलता रहा है। आज का यथार्थ यदि इस सनातन अकृतज्ञता का ब्योरेवार इतिहास बनकर तथा पुराने अपकारो की नवीन आवृत्तियाँ रचकर ही उऋण होना चाहता है तो यह प्रवृत्ति वर्तमान स्थिति मे आत्मघातक सिद्ध होगी।

विकासशील गति के सम्बन्ध मे यह स्मरण रखना आवश्यक है कि वह स्वास्थ्य का लक्षण है व्याधि का नही। साधारणत सन्निपातग्रस्त मे स्वस्थ से अधिक अस्थिरता होती है। डाल मे लगे सजीव पत्ते से अधिक खर्खराहट भरी गति उस सूखे पत्ते में रहती है जो आँधी पर दिशाहीन सरसर उडता घूमता है। टूटा हुआ तारा स्थायी तारे से अधिक सीधी तीखी रेखा पर दौडता है।

शरीर से सबल, बुद्धि से निश्चित और हृदय से विश्वासी पथिक वही है जो कही पर्वत के समान अडिग रह कर बवडर को आगे जाने देता है और कही प्रवाह के समान चञ्चल होकर शिलाओ को पीछे छोड आता है।

इस दिशा मे आलोचक का कर्त्तव्य जितना महत्वपूर्ण था उतने उत्तरदायित्व के साथ उसका निर्वाह न हो सका।

छायावाद को तो शैशव में कोई सहृदय आलोचक ही नही मिल सका। द्विवेदीयुग के सस्कार लेकर जो आलोचना चल रही थी उसने नवीन कवियो को विक्षिप्त प्रमाणित करने मे सारी शक्ति लगा दी और नये कवियो ने अपने कठिनहृदय आलोचको को प्राचीनता का भग्नावशेष कह कर सन्तोष कर लिया। जब यह कवि अपने विकास के मध्याह्न मे पहुँच गए तब उन्हे भक्त मिलना ही स्वाभाविक हो गया।

छायावाद एक प्रकार से अज्ञात कुलशील बालक रहा, जिसे सामाजिकता का अधिकार ही नही मिल सका। फलत उसने आकाश, तारे, फूल, निर्झर आदि से आत्मीयता का सम्बन्ध जोडा और उसी सम्बन्ध को अपना परिचय बनाकर मनुष्य के हृदय तक पहुँचने का प्रयत्न किया। आज का यथार्थवाद, बुद्धि और साम्यवाद का ऐसा पुत्र है जिसके आविर्भाव के साथ ही, आलोचक जन्मकुण्डली बना बना कर उसके चक्रवर्तित्व की घोषणा मे व्यस्त हो गए। स्वय उसके जीवन और विकास के लिए कैसे वायुमण्डल, कैसी धूपछाया और कितने नीर-क्षीर की आवश्यकता होगी इसकी उन्हें चिन्ता नही।

आज के कवि और आलोचक की परिस्थितियो मे विशेष अन्तर है। कवियो में एक दो अपवाद छोडकर शेष ऐसी अनिश्चित स्थिति मे रहे और रहते आ रहे है जिसमें न लिखने का अनिवार्य परिणाम, उपवास-चिकित्सा है। इसके विपरीत आलोचको में दो एक अपवाद छोड कर शेष की स्थिति इतनी निश्चित है कि लिखना, अध्यापन और स्वाध्याय का आवश्यक फल हो जाता है। वे अपने से उच्च वर्ग की गृह-परिग्रह-जीवन सम्बन्धी सुविधायें देखकर खिन्न होते है अवश्य, पर यह खिन्नता जीवन की विशेष गहराई से सम्बन्ध नही रखती, अत उनका कार्य प्रस्ताव के अनुमोदन से अधिक महत्त्व नही रखता।

एक दीर्घकाल से हमारा बुद्धिजीवी वर्ग जीवन के स्वाभाविक और सजीव स्पर्श से दूर रहने का अभ्यस्त हो चुका है। परिणामत एक ओर उसका मस्तिष्क विचारो की व्यायामशाला बन जाता है और दूसरी ओर हृदय, निर्जीव चित्रो का सग्रहालय मात्र रह जाता है। आलोचक भी इसी वर्ग का प्रतिनिधि होने के कारण मानसिक पूँजीवाद और जीवन का दारिद्रय साथ लाये बिना न रह सका। जीवन की ओर लौटने की पुकार उसकी ओर से नही आती, क्योकि ऐसी पुकार स्वय उसीके जीवन को विरोधाभास बना देगी। व्यावहारिक धरातल पर भी वह, एक अथक विवादंपणा के अतिरिक्त कोई निश्चित कसौटी नही दे सका जिसपर साहित्य और काव्य का खरा खोटापन विश्वास के साथ परखा जा सके।

समाज के विभिन्न स्तरो से उसका सम्पर्क इतना कम और पीडित वर्ग से उसका परिचय इतना बौद्धिक है कि व्यक्तिगत सिद्धान्त-प्रियता, समष्टिगत जीवन की उपेक्षा बन जाती है। पीडितवर्ग की पूँजी से चाहे जितना व्यक्तिगत व्यापार चले उसका हृदय नही कसकता; गति के बहाने चाहे जीवन ही कुचल दिया जावे पर उसका आसन नही डोलता, यथार्थ के नाम पर नारी का क्रूर चीरहरण होता रहे पर वह धृतराष्ट्र की भूमिका नही छोड सकता।

उसका कर्तव्य वैसा ही निश्चित और एकरस है जैसा अस्त्र रखने का लाइसेन्स देनेवाले का होता है। लेनेवाला यदि निश्चित नियमो की परिधि मे आ जाता है तो वह अस्त्र पाने का अधिकारी है, चाहे वह उसे चींटी पर चलावे, चाहे तारे पर और चाहे मारने के लिए कुछ न रहने पर आत्मघात करे। देनेवाले पर इसका लेशमात्र भी उत्तरदायित्व नही। ज्यो ज्यो आलोचक में महाजन का तकाजेभरा आत्मविश्वास बढता जाता है त्यो त्यो कवि मे ऋणी का बहाने भरा दैन्य गहरा होता जा रहा है। नया कवि अपने अनेक वाणी में बोलने वाले नये आलोचक मे उतना ही आतकित है जितना दरबारी कवि, राजा के षड्यन्त्रकारी मन्त्री से हो सकता था।

किशोरता जीवन का वह वर्षाकाल है जो हर गढे को भर कर धरती को तरल समता देना चाहता है, हर बीज को उगा कर

धूल को हरा भरा कर देने के लिए आतुर हो उठता है। पर वह जडो को गहराई देने के लिए नही रुकता, तट बनाने को नही ठहरता। इसके विपरीत प्रौढता उस शरद जैसी रहेगी जो जल को तट देती है पर सुखाकर रेत भी कर सकती है, अच्छे अकुरो को स्थायित्व देती है पर विषैली जडो को भी गहराई दे सकती है। साधारणत. किशोर अवस्था मे स्नेह के स्वप्न कोमल और जीवन के आदर्श सुन्दर ही रहते है—उनमे न वासना की उत्कट गन्ध स्वाभाविक है और न विकृत मनोवृत्तियो की पकिलता।

कवि कोई स्वप्न न देखे ऐसा नियम आलोचक नही बना पाया पर वह कुरूप स्वप्न ही देखे ऐसा नियन्त्रण उसके अधिकार मे है। फलत कवि दण्ड की परिधि से बाहर, अपनी स्वाभाविक प्रवृत्तियो को एक सौन्दर्यलोक मे घुमाता रहता है और दण्ड की परिधि मे, उन्हे संसार भर की कुत्सित वेशभूषा मे उपस्थित कर देता है। एक ककाल की रेखाये खीच कर वह तीन सौन्दर्य दृश्य आँक लेता है, एक मजदूरनी की शवपरीक्षा करके वह पाँच रहस्यमय स्नेहगीत गा लेता है और इस प्रकार अपने गूढदृष्टि आलोचक मे दृष्टिभ्रम उत्पन्न करता रहता है।

प्रौढ मस्तिष्क की कथा दूसरी है, क्योकि इस अवस्था मे बद्धमूल सस्कार ही विशेष महत्त्व रखते है। यदि उसके स्वभावगत संस्कार स्वस्थ और अविकृत है तो वह जीवन की कुत्सा के भीतर मिले सत्य को भी स्पर्श मात्र से सुन्दर कर लेता है। और यदि अपने युग की विकृतियाँ और अस्वस्थ प्यास ही उसकी पूँजी है तो वह उसे बढाने के लिए विकृत से विकृततर होता जाता है।

इस प्रकार आज का गतिशील साहित्य एक वृत्त के भीतर गतिशील है। इस सकीर्ण वृत्त मे धर्म का वह विद्रोह भी उपस्थित है जो मानव को मील का पत्थर और तिलक छाप को चरम लक्ष्य मानता है और राजनीति का वह विरोध भी मिलता है जो अपनी रेखा के भीतर ककड-पत्थर को देवता कहता है और उससे बाहर खडे मनुष्य को कीटपतग की सज्ञा देता है।

आज की सभी विकृतियो और सकीर्णताओ का एकमात्र उपाय जीवन मे घुलमिल जाना है। अपनी त्रुटि के सम्बन्ध मे जो यह कहता है कि आज अवकाश नही वह मानो उस त्रुटि को फैलने के लिए जीवन भर का अवकाश दे देता है।

नष्ट करने योग्य वस्तुओ मे जीवन की विरूप छाया ही है जो उस दिन स्वय बदल जायगी जिस दिन यथार्थदर्शी, सत्य का द्रष्टा होकर जीवन को सौन्दर्य से अभिषिक्त कर देगा।

अपने युग का शिव बनने का इच्छुक कवि हलाहल पान के लिए ससार भर से निमन्त्रण की याचना करके अपने ही शिवत्व को सन्दिग्ध बना रहा है।

[४]

दीपशिखा में मेरी कुछ ऐसी रचनाये सग्रहीत है जिन्हे मैने रगरेखा की धुँधली पृष्ठभूमि देने का प्रयास किया है। सभी रचनाओं को ऐसी पीठिका देना न सम्भव होता है और न रुचिकर, अत रचनाक्रम की दृष्टि से यह चित्रगीत बहुत बिखरे हुए ही रहेगे। शैशव ही से मै गीतो के सस्कार में पली हूँ। मा की भावभरी गीताञ्जलियाँ, घर मे जन्म आदि शुभ अवसरो पर गाई जानेवाली गीति-कथाये, परिचारको के ऋतु, पर्व आदि से सम्बन्ध रखनेवाले लोक-गीत, कलाविदो का ध्वनि-सगीत, प्राचीन ज्ञान और सौन्दर्य द्रष्टाओ के वेद-छन्द, माधुर्य भरे सस्कृत और प्राकृत पद और पिछले अनेक वर्षो मे सुने सहज ग्रामगीत सभी के प्रति मेरा स्वाभाविक आकर्षण रहा है। इस गीत-परम्परा के सम्बन्ध मे कभी विस्तार से कहने की इच्छा है। इस समय तो इतना ही पर्याप्त होगा कि मेरे गीत अध्यात्म के अमूर्त आकाश के नीचे लोक-गीतो की धरती पर पले है।

काव्य की ऊँची ऊँची हिमालय श्रेणियो के बीच मे गीतिमुक्तक एक सजल कोमल मेघखण्ड है जो न उनसे दब कर टूटता है और न बँधकर रुकता है, प्रत्युत् हर किरण से रङ्गस्नात होकर उन्नत चोटियो का शृगार कर आता है और हर झोके पर उड़ उड कर उस विशालता के कोने कोने मे अपना स्पन्दन पहुँचाता है।

साधारणत गीत वैयक्तिक अनुभूति पर इतना आश्रित है कि कथा-गीत और नीतिपद तक अपनी सवेदनीयता के लिए व्यक्ति की भावभूमि की अपेक्षा रखते है। अलौकिक आत्मसमर्पण हो या लौकिक स्नेहनिवेदन, तात्कालिक उल्लास-विषाद हो या शाश्वत सुखदुखो का अभिव्यञ्जन, प्रकृति का सौन्दर्य-दर्शन हो या उस सौन्दर्य मे चैतन्य का अभिनन्दन, सब मे गेयता के लिए हृदय अपनी वाणी मे ससार-कथा कहता चलता है। संसार के मुख से हृदय की कथा, इतिहास अधिक है गीत कम।

आज हम ऐसे बौद्धिक युग में से जा रहे है जो हृदय को मासल यन्त्र और उसकी कथा को वैज्ञानिक आविष्कारो की पद्धति मात्र समझता है फलत गीत की स्थिति कठिन से कठिनतर होती जा रही है।

गेयता में ज्ञान का क्या स्थान है यह भी प्रश्न है। बुद्धि के तर्कक्रम से जिस ज्ञान की उपलब्धि हो सकती है उसका भार, गीत नही सँभाल सकता; पर तर्क से परे इन्द्रियो की सहायता के बिना भी हमारी आत्मा अनायास ही जिस सत्य का ज्ञान प्राप्त कर लेती है उसकी अभिव्यक्ति मे गेय स्वर-सामञ्जस्य का विशेष महत्त्व रहा है। वेदगीतो के विश्वचिन्तन से सन्तो के जीवनदर्शन तक फैली हुई हमारी गीत-

परम्परा इस आत्मानुभूत ज्ञान की आभारी है। पर यह आत्मानुभूत ज्ञान आत्मा के सस्कार और व्यक्तिगत साधना पर इतना निर्भर है कि इसकी पूर्ण प्राप्ति और सफल अभिव्यक्ति सबके लिए सहज नही। इसी कारण वेदकालीन मनीषियो का आत्मानुभूत ज्ञान और उसकी सामञ्जस्यपूर्ण अभिव्यक्ति सब युगो मे सम्भव न हो सकी।

रहस्य-गीतो का मूलाधार भी आत्मानुभूत अखण्ड चेतन है पर वह, साधक की मिलन-विरह की मार्मिक अनुभूतियो में इस प्रकार घुलमिल सका कि उसकी अलौकिक स्थिति भी लोक-सामान्य हो गई। भावो के अनन्त वैभव के साथ ज्ञान की अखण्ड व्यापकता की स्थिति वैसी ही है जैसी, कही रगीन, कही सितासित, कही सघन, कही हल्के, कही चाँदनीधौत और कही अश्रुस्नात बादलो से छाये आकाश की होती है। व्यक्ति अपनी दृष्टि को उस अनन्त रूपात्मकता के किसी भी खण्ड पर ठहरा कर आकाश पर भी ठहरा लेता है। अत आनन्द और विषाद की मर्मानुभूति के साथ साथ उसे एक अव्यक्त और व्यापक चेतन का स्पर्श भी मिलता रहता है। पर ऐसे गीतो मे निर्गुण ज्ञान और सगुण अनुभूति का जैसा सन्तुलन अपेक्षित है वैसा अन्य गीतो मे आवश्यक नही, क्योकि आधार यदि बहुत प्रत्यक्ष हो उठे तो बुद्धि उसे अपनी परिधि से बाहर न जाने देगी और भाव, यदि अव्यक्त सूक्ष्म हो जावे तो हृदय उसे अपनी सीमा मे न रख सकेगा। रहस्यगीतो में आनन्द की अभिव्यक्ति के सहारे ही हम चित् और सत् तक पहुँचते हैं।

सगुणोन्मुख गीतो मे सत्‌चित् की रूपप्रतिष्ठा के द्वारा ही आनन्द की अभिव्यक्ति सम्भव हो सकती है इसीसे कवि को बहुत अन्तर्मुख नही होना पडता। वह रूपाधार के परिचय द्वारा हृदय के मर्म तक पहुँचने का सहज मार्ग पा लेता है। सगुण-गायक अनेक रग लेकर एक सीमित चित्रफलक को रँगता है, अत वह उस निर्गुण-गायक से भिन्न रहेगा जिसके पास रग एक और चित्रपट शून्य असीम है। एक की निपुणता रगो के अभिनव चटकीलेपन पर निर्भर है और दूसरे की, रेखाओ की चिर नवीन अनन्तता पर। भक्त यदि जीवनदर्शी है तो उसके गीत की सीमित लौकिकता से असीम अलौकिकता वैसे ही बँधी रहेगी जैसे दीप की लौ से आलोकमण्डल और यदि रहस्य-द्रष्टा तन्मय आत्मनिवेदक है तो उसके गीत की अलौकिक असीमता से, लौकिक सीमाये वैसे ही फूटती रहेगी जैसे अनन्त समुद्र में हिलोरे।

वास्तव मे सगुणगीत में जीवन की विस्तृत कथात्मकता के लिए भी इतना स्थान है कि वह लोक-गीत के निकट आ जाता है। लोक-गीत की सुलभ इतिवृत्तात्मकता का इसे कम भय है और भावो की अतिसाधारणता का खटका भी अधिक नही, पर उसकी सरल सवेदनीयता की सब सीमाओ तक उसकी पहुँच रहती है।

हमारी गीतपरम्परा विविधरूपी है पर उसका वही रूप पूर्णतम है जो भावभूमि का सच्चा स्पर्श पा सकता है। गीत का चिरन्तन विषय रागात्मिका वृत्ति से सम्बन्ध रखनेवाली सुखदुखात्मक अनुभूति ही रहेगी। पर अनुभूति मात्र गीत नही, क्योकि गेयता तो अभिव्यक्ति सापेक्ष है। साधारणत गीत व्यक्तिगत सीमा मे तीव्र सुखदुखात्मक अनुभूति का वह शब्दरूप है जो अपनी ध्वन्यात्मकता मे गेय हो सके।

कलाओ मे चित्र ही काव्य का अधिक विश्वस्त सहयोगी होने की क्षमता रखता है। मूर्त्ति कठिनतम सीमाओ मे बँधी होने के अतिरिक्त रगो की पृष्ठभूमि असम्भव कर देती है। उसमे एक ही भाव को मूर्त्तिमत्ता दी जा सकती है और वह भी रगहीन।

नृत्य भी शरीर की चेष्टाओ पर आश्रित होने के कारण मूर्त्ति के बन्धनो से सर्वथा मुक्त नही। वह एक प्रकार का अभिनीत गीत है। भौतिक आधार अर्थात् स्थूल माध्यम से स्वतन्त्र सगीत काव्य के अधिक निकट है परन्तु अपनी ध्वनि सापेक्षता के कारण वह काव्य को दृष्टि का विषय बनाने में समर्थ नही।

माध्यम की दृष्टि से चित्र, सूक्ष्म और स्थूल के मध्य मे स्थिति रखता है। देशसीमा के बन्धन रहते हुए भी वह रगो की विविधता और रेखाओ की अनेकता के सहारे काव्य को रगरूपात्मक साकारता दे सकता है। अमूर्त्त भावो का जितना मूर्त्त वैभव चित्रकला मे सुरक्षित रह सकता है उतना किसी अन्य कला मे सहज नही इसीसे हमारे प्राचीन चित्र जीवन की स्थूलता को जितनी दृढता से सँभाले हैं, जीवन की सूक्ष्मता को भी उतनी ही व्यापकता में बाँधे हुए है।

व्यक्तिगत रूप से मुझे मूर्त्तिकला विशेष आकर्षित करती है, क्योकि उसमे कलाकार के अन्तर्जगत का वैभव ही नही, बाह्य आयास भी अपेक्षित रहता है। दुर्भाग्यवश उसे सीखने का मुझे कभी अवकाश ही नही मिल सका, अत मिट्टी की मूर्त्तियाँ गढ गढ कर, मैं कुम्भकारो को दीक्षा देने की पात्रता प्राप्त करती रही हूँ।

चित्रकला मे भी बहुत छोटे से ज्ञानबीज पर मैंने रगरेखा की शाखाये फैला दी है। ललितकला हो या उपयोगी शिल्प सभी को कुछ शीघ्र ग्रहण कर लेने की मुझ मे सहज शक्ति है इसीसे चित्र बनाने से लेकर कपडा बुनने तक सब कुछ मैं अनायास ही कर लेती हूँ। परन्तु यह सत्य है कि कपडा बुनकर वह तृप्ति नही प्राप्त होती जो चित्र अकित कर लेने पर स्वाभाविक है। और कविता लिखने के समय तो मेरे मन, बुद्धि, हृदय, सब एक ऐसी सामञ्जस्यपूर्ण तन्मय स्थिति मे रहते है कि मैं उसे कलाशिल्प की परिधि से बाहर रखना चाहूँगी, दोनो में उतना ही अन्तर है जितना देवता के सामने पुजारी की एकान्त अर्चना और उसके प्रसाद वितरण मे रहता है।

मेरे गीत और चित्र दोनो के मूल मे एक ही भाव रहना जितना अनिवार्य है उनकी अभिव्यक्तियो मे अन्तर उतना ही स्वाभाविक। गीत मे विविध रूप, रग, भाव, ध्वनि, सब एकत्र है, पर चित्र मे इन सबके लिए स्थान नही रहता। उसमे प्राय रगो की विविधता और रेखाओ के बाहुल्य में भी एक ही भाव अंकित हो पाता है, इसीसे मेरा चित्र गीत को एक मूर्त्त पीठिका मात्र दे सकता है, उसकी सम्पूर्णता बाँध लेने की क्षमता नही रखता।

कुछ अजन्ता के चित्रो पर विशेष अनुराग के कारण और कुछ मूर्त्तिकला के आकर्षण से, चित्रो मे यत्र तत्र मूर्त्ति की छाया आ गई है। यह गुण है या दोष यह तो मैं नही बता सकती पर इस चित्रमूर्त्ति-सम्मिश्रण ने मेरे गीत को भार से नही दबा डाला है ऐसा मेरा विश्वास है। रगो की दृष्टि से मैं बहुत थोडे और विशेषत नीले सफेद से ही काम चला लेती हूँ। जहाँ कई को मिलाना आवश्यक होता है वहाँ ऐसे मिलाना अच्छा लगता है कि किसी की स्वतन्त्र सत्ता न रह सके। दीपशिखा के चित्र तो एक ही रंग मे बने थे, अत. उनके भाव-अकन मे आयास भी अधिक हुआ और इस अभाव-युग में उनके मूलरूपो की सन्तोपजनक प्रतिकृति देना भी असम्भव हो गया।

प्रकृति का शान्त रूप जैसे मेरे हृदय को एक चञ्चल लय से भर देता है उसका रौद्र रूप वैसे ही आत्मा को प्रशान्त स्थिरता देता है। अस्थिर रौद्रता की प्रतिक्रिया ही सम्भवत मेरी एकाग्रता का कारण रहती है। मेरे अन्तर्मुखी गीतो मे तो यह एकाग्रता ही व्यक्त हो सकती है परन्तु चित्र मे उनका वाह्य वातावरण भी चित्रित हो सका है। मेरे निकट आँधी, तूफान, बादल, समुद्र आदि कुछ ऐसे विषय है जिनपर चित्र बनाना अनायास और बना लेने पर आनन्द स्थायी होता है।

जीवन की दृष्टि से मैं बहुधन्धी हूँ अत. एकान्त काव्य-साधना का प्रश्न उठाना ही व्यर्थ होगा।

साधारणत. मुझे भाव-विचार और कर्म का सौन्दर्य समान रूप से आकर्षित करता है इसीसे किसी एक मे जीवन की पूर्णता पा लेना मेरे लिए सहज नही। भाव और विचार-जगत की सब सीमायें न छू सकने पर भी मेरे कर्मक्षेत्र की विविधता कम सारवती नही।

विशाल साहित्यिक परिवार के हर्ष-शोक मेरे अपने है परन्तु उससे बाहर खड़े व्यक्तियो की सुखदुख-कथा भी मुझे पराई नही लगती। अपने सुशिक्षित सुसस्कृत विद्यार्थियो से साहित्यालोचन करके मुझे प्रसन्नता होती है परन्तु अपने मलिन दुर्बल जिज्ञासुओ को वर्ण-माला पढाने मे भी मुझे कम सुख नही मिलता।

जहाँ तक मेरा प्रश्न है मैने उस उपेक्षित संसार में बहुत कुछ भव्य पाया है, अन्यथा सभ्यसमाज से इतनी दूरी असह्य हो जाती।

अनेक बार उनके लोक-गीत सुनकर ऐसा भी लगा है कि यह भाव मेरे गीत मे होता। "एक कदम की डार बसैं दो पछियाँ" गाने वाली मेरी ग्रामीण सखी इस गीत को अपने जीवन की अन्योक्ति बनाकर गाती है। साधारण शाब्दिक अर्थ मे यह गीत दो विहगो के करुण विछोह की कथा है। परन्तु उसे अलौकिक अर्थ मे ग्रहण कर लेने मे मुझे कोई कठिनाई नही होती। अपने छोटे घर के द्वार पर टेढा मेढा स्वस्तिक बनाकर उसके दोनो ओर हाथ की छाप लगानेवाली सरल गृहणी की कल्याण-कामना चाहे बहुत स्पष्ट न हो पर मूलत वह मेरी उस भावना से भिन्न नही जिसके कारण मैं शून्य भित्ति पर बुद्ध का चित्र बना देना चाहती हूँ।

इस साम्य का एक और भी कारण है। हमारे इस उपेक्षित वर्ग ने भारतीय नारी की आत्मा पाई है—विश्वासी सहनशील और अश्रुस्नात, इसीसे उस ओर के जीवन से मेरा नितान्त अपरिचय सम्भव नही।

काव्य इतना मूल्यवान क्यो हो कि सब तक न पहुँच सके यह भी समस्या है।

एक बहुत बडे मानव-समूह को हमने ऐसी दुर्दशा मे रख छोडा है जहाँ साहित्य का प्रवेश कल्पना की वस्तु है। वह समाज, हृदय की बात समझता है पर व्यक्ति के माध्यम से। धर्म के माध्यम से उसने जो प्राचीन पद-साहित्य ग्रहण कर लिया है वह भी काव्य की दृष्टि से कभी पढा समझा नही जाता। उस धरातल पर अर्थ का प्रश्न कैसा सर्वग्रासी बन चुका है यह कहने की आवश्यकता नही। ऐसे समाज मे काव्य पहुँचाने से अधिक महत्त्व का प्रश्न मनुष्य पहुँचाना है जो अपनी सहज संवेदना से उनके हृदय तक पहुँचकर बुद्धि की खोज खबर ले सके।

इन दुर्भाग्यग्रस्त प्राणियो में ऐसे व्यक्ति कम नही जो या तो परिश्रम के योग्य नही या परिश्रम करके भी जीने की सुविधा नही पाते। जब तक मैं अन्य कार्य करने मे समर्थ हूँ मेरे साहित्य के अर्थपक्ष पर केवल उन्ही का अधिकार है।

जिनके पास ऐसी कृतियाँ पहुँच सकती है उनकी स्थिति कुछ दूसरी है। हमारे यहाँ लेखक ही विशिष्ट पाठक है और ये परस्पर आदान-प्रदान मे ही एक दूसरे की कृतियाँ पढते सुनते है। उच्च बुद्धिजीवियो के पुस्तकालय ऐसे स्वर्ग है जहाँ अखण्ड पुण्यफल से ही हिन्दी की रचना प्रवेश पा सकती है और पा लेने पर भी वह विदेशीय पवित्रात्माओ के बीच मे कोई स्थान नही बना पाती। साधारण बुद्धिजीवी का जीवन कृत्रिमता के भार से इतना दब गया है कि अब वह हँसने, रोने का भी अवकाश नही पाता। अपनी कृत्रिमता के अनावश्यक अंश को भी वह जितना मूल्यवान समझता है, उतना किसी श्रेष्ठतम कृति को नही मानता। जहाँ तक विशिष्ट विद्यार्थिवर्ग का प्रश्न है उसकी इतिहास

राजनीति आदि से सम्बन्ध रखनेवाली विदेशीय पुस्तक भी हिन्दी की असाधारण कृति से अधिक मूल्य रखती है। इतना ही नही दरिद्रतम विद्यार्थी भी ऐसी पुस्तकें क्रय करने पर बाध्य है जिन्हे वह जीवन भर साथ नही रखना चाहता और परीक्षा के अन्त में पुरातन पुस्तको के चिकित्सालय को सौप आता है।

कलाकार सब तक पहुँच सके यह एक उजले भविष्य का सुन्दर स्वप्न है। इस अन्धकार के युग में तो सब अपने अपने पथ पर अकेले ही चल रहे है, अत अपने चलने की सीमा नापने के लिए भी स्मृति-चिह्न छोडना आवश्यक हो जाता है।

हमारा युग दुर्बलताओ और ध्वस का युग है और दुर्बलता तथा ध्वस जितने प्रसारगामी होते है, शक्ति और निर्माण उतने नही हो सकते। शक्ति और गुण मनुष्य को असाधारणता देते है, अत उन्हें दूसरे तक अनायास पहुँचा देना सम्भव नही। दूसरे व्यक्ति यदि इस असाधारणता के प्रति श्रद्धालु है तो यह पूजा की वस्तुमात्र रह जायगी और यदि ईर्ष्यालु है तो इसका विकृत कायाकल्प हो जायगा।

दुर्बलता और अवगुण मनुष्य को अति साधारणता दे देते है, अत पूजा या ईर्ष्या दोनो के लिए इसमें स्थान नही। कुछ स्वाभाविक प्रवृत्ति के कारण और कुछ दूसरो की शक्ति के प्रति ईर्ष्यालु होने के कारण मनुष्य अपनी दुर्बलता और अवगुण अन्य व्यक्तियो मे पहुँचाने के लिए विशेष क्रियाशील रहता है।

हमारा युग स्वान्त सुखाय की सात्विकता पर चाहे विश्वास न करे पर स्वस्वार्थाय की व्यावहारिकता पर उसकी निष्ठा अपूर्व है।

एक निष्क्रिय बुद्धिवाद और हृदयशून्य सक्रियता भी उसका अभिशाप है। ऐसी स्थिति मे अपनी विरूपताओ को संक्रामक बनाने का जितना भय है उतना, शक्ति पहुँचाने की इच्छा का विश्वास नही।

व्यक्तिगत रूप से स्वान्त सुखाय की मगलभावना पर भी मेरा विश्वास है और उसके लिए आवश्यक आत्मनिरीक्षण पर भी। क्षण भर में बीज को वृक्ष दिखा देनेवाले ऐन्द्रजालिक का वैभव मेरे साथ नही और अपनी विकलागता के बल पर याचना करनेवाले भिक्षुक की दरिद्रता भी मेरे पास नही। मैं तो विश्वास के साथ तिल तिल मिट कर कण कण बनाती हूँ, अत मेरे निकट बिना मूल्य मिली जय से वह पराजय अधिक मूल्यवान ठहरेगी जो जीवन की पूर्ण शक्ति-परीक्षा ले सके।

आज के युग मे मुझे नामसिद्धि जातक के उस पापक का स्मरण हो आता है जो अपने अमागलिक नाम से दुखी हो कर गुरु-आज्ञा से उपयुक्त नाम ढूँढने निकला पर जीवक को मृत, धनपाली को निर्धन और पथक को मार्ग भूला हुआ देखने के उपरान्त नाम को प्रज्ञप्ति मात्र समझ कर अपने ही नाम से सन्तुष्ट हो गया। केवल नाम तो कोई अर्थसिद्धि नही और प्रज्ञप्ति मात्र मेरा कोई लक्ष्य नही।

दीपशिखा मे अविश्वास का कोई कम्पन नही है। नवीन प्रभात के वैतालिको के स्वर के साथ इसका स्थान रहे ऐसी कामना नही, पर रात की सघनता को इसकी लौ झेल सके यह इच्छा तो स्वाभाविक ही रहेगी।

रामनवमी
१९४२

—महादेवी

ओ चिर नीरव

मैं सरित विकल

तेरी समाधि की सिद्धि अकल

चिर निद्रा में सपने का पल

ले चली लास में लय-

मैं अश्रु-तरल,

तेरे ही प्राणों की हलचल,

पा तेरी साधों का सम्बल,

मैं फूट पड़ी ले स्वर-वैभव

मैं सुधि-नर्तन,

पथ बना, उठे जिस ओर चरण,

दिश रचता आता मधु-स्पन्दन,

आता अजिर जग का शैशव।

मैं पुलकाकुल,

पल पल जाती रसगागर ढुल,

प्रस्तर के जाते बन्धन खुल,

छू रही व्यथा निधियाँ नव नव

मैं चिर चञ्चल,

मुझसे है तट-रेखा अविचल,

तट पर क्षणों का कोलाहल,

दल-रङ्ग-सुमन-तृण कण-कण-

मैं ऊर्मि-विरल,

तू तुङ्ग अचल वह सिन्धु अतल

बाँधे दोनों को मैं चल चल,

धो रही द्वैत के सौ कैतव

मैं गति विह्वल,

पाथेय रहे तेरा दृग-जल